शोध पत्रिका
2019
मूल्य : 100 रुपए

ISSN : 0974-7958

शोधश्री

संरक्षक :
डॉ. पी. के. कालड़ा
निदेशक, दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, आगरा

परामर्श :
प्रो. जे. के. वर्मा, डीन, कला संकाय
प्रो. शर्मिला सक्सेना, अध्यक्ष हिंदी विभाग

संपादक :
डॉ. प्रेमशंकर सिंह
डॉ. बृजराज सिंह

संपादन सहयोग :
डॉ. रंजना पांडे
अरविंद, पूजा यादव,
प्रीति, गुर प्यारी यादव

संपादकीय संपर्क :
हिंदी विभाग, दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, आगरा
ई-मेल : shodhshreedei@gmail.com
मोबाइल : 9838709090, 9415703379

दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, आगरा

प्रकाशक, मुद्रक दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग़, आगरा के लिए दयालबाग़ एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग़, आगरा से प्रकाशित और आर.के. ऑफसेट प्रोसेस, एम.-28, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित। संपादक : डॉ. प्रेमशंकर सिंह/डॉ. बृजराज सिंह। रचना में व्यक्त विचार से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

अनुक्रम

संपादकीय 3

भोजपुरी और राजस्थानी लोकगीतों की समान भाव भूमि / *डॉ. महीपालसिंह राठौड़* 4
केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' प्रणीत 'कैकेयी' महाकाव्य में नूतन उद्‌भावना / *डॉ. जयश्री बंसल* 10
प्रासंगिकता का सवाल और भक्ति काल / *डॉ. क्रान्ति बोध* 14
आधुनिकतावादी संत्रास के व्याख्याकार : विजयदेव नारायण साही / *मृत्यंजय* 19
मोहन राकेश के नाटकों में आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता की अभिव्यक्ति / *डॉ. पाण्डव कुमार* 24
राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' उपन्यास में दलित विमर्श / *मोनिका कुमारी* 30
बागड़ी समाज के रीति-रिवाज व विभिन्न रस्में / *डॉ. राजेन्द्र कुमार सेन* 33
शृंखला की कड़ियाँ : स्त्री-मुक्ति का दस्तावेज / *शुभम यादव* 40
समकालीन हिंदी कविता की भाषा संरचना / *ज्योति यादव* 43
राजस्थान में आजादी के बाद कला यात्रा / *डॉ. मोहन लाल जाट* 46
स्त्री विमर्श और महादेवी वर्मा का काव्य / *डॉ. कामिनी* 50
पद्मावत में लोकतत्व और भारतीय संस्कृति / *मंजू चौरसिया* 53
हिन्दी रंगालोचन का स्वरूप / *डॉ. अल्पना त्रिपाठी* 56
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की काव्ययात्रा / *डॉ. अवधेश त्रिपाठी* 64
दलित साहित्य की वैचारिक बहस के कुछ आयाम / *डॉ. दीपक सिंह* 74
हिन्दी कथा साहित्य में ग्राम / *डॉ.रंजना पाण्डेय* 79
ग़ालिब : आधुनिक चेतना / *डॉ. नमस्या* 84
मैत्रेयी पुष्पा के 'विज़न' उपन्यास में परिलक्षित स्त्री पुरुष संबंध / *अलका यादव* 87

संपादकीय

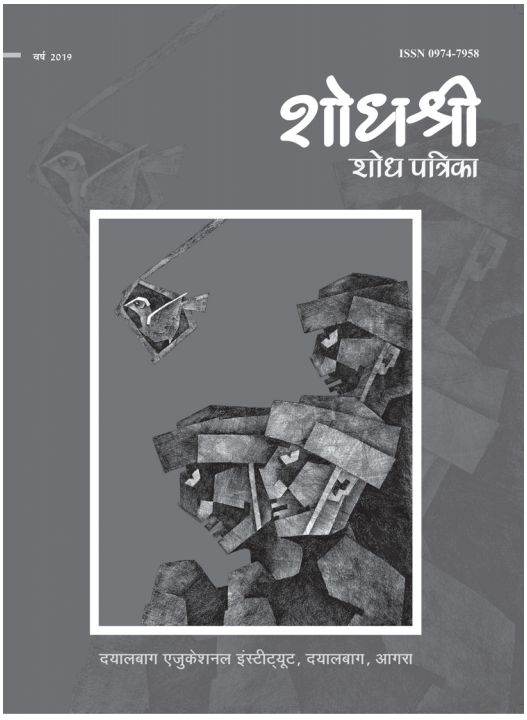

दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट की शोध पत्रिका शोधश्री का प्रकाशन 2009 में प्रारंभ हुआ था। इन 10 वर्षों में शोधश्री के कई महत्त्वपूर्ण अंक जैसे— दलित विमर्श एवं स्त्री विमर्श प्रकाशित और बहुप्रशंसित भी हुए हैं। अभी तक इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य से संबंधित शोध आलेख प्रकाशित होते रहे हैं, इस अंक में हिंदी भाषा और साहित्य के साथ–साथ दूसरे अनुशासनों के भी कुछ शोध आलेख शामिल किए गए हैं। अगले अंकों में हमारी कोशिश रहेगी कि दूसरे अनुशासन जैसे— समाज विज्ञान, अभियांत्रिकी, वाणिज्य, शिक्षा, विज्ञान, आदि अनुशासनों के शोध आलेखों की संख्या बढ़ाई जाए। इन अनुशासनों के हिन्दी माध्यम में लिखे गए शोध आलेखों के लिए बेहतर जगह उपलब्ध कराना हमारी प्राथमिकता होगी। हिंदी के पाठकों या शोधार्थियों के लिए अन्य अनुशासनों की यह सामग्री सरलता से उपलब्ध हो, इसका प्रयास किया जाएगा। शोधश्री के माध्यम से हमारी कोशिश रहेगी कि शोधार्थियों को अवसर और जगह उपलब्ध हो सके। हम शोधश्री की गुणवत्ता उत्कृष्टता बनाए रखने का पूरा प्रयास करते हैं, मानविकी और कला संबंधित विषयों के लिए हिंदी माध्यम में उत्कृष्ट शोधों के लिए स्तरीय शोध पत्रिका का अभाव कभी कभी दिखाई देता है। इसके साथ ही शोधश्री दूसरे अनुशासनों के शोध आलेखों को भी हिंदी माध्यम में प्रकाशित और प्रसारित करने का एक माध्यम बने, हमारा ऐसा प्रयास रहेगा।

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

भोजपुरी और राजस्थानी लोकगीतों की समान भाव भूमि

डॉ. महीपालसिंह राठौड़*

भोजपुरी और राजस्थानी हिन्दी परिवार की भाषाएँ हैं और हिंदी के लिए आधारभूत सामग्री उपलब्ध करवाने वाली हैं। दोनों की ही देश और विदेश में बोलने वालों की पर्याप्त संख्या है। फिर भी वे संविधान की आठवी अनुसूची से बाहर हैं। उससे उनकी सेहत पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। उनकी साहित्यिक सम्पदा और भाव सौंदर्य को कोई कम नहीं कर सकता। ये प्रदेश संघर्षशील और जुझारू लोगों के प्रदेश है जहाँ प्राचीन काल से ही भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं की स्थापना हुई है। उन प्रदेशों की भाषाओं में विशेष कर लोक साहित्य में भावों में अद्‌भुत साम्यता है।

इस आलेख में राजस्थानी और भोजपुरी लोकगीतों के उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया जायेगा कि इन भाषाओं में भावों की कितनी समीपता है। मोहनसिंह सेंगर के शब्दों में इन प्रतिक्रियाओं और भावोद्रेकों में एक अद्‌भुत साम्य है, क्योंकि इनका मूल स्त्रोत और परिस्थितयाँ जो एक हैं। ज्यों–ज्यों मानव–संस्कृति का रथ विकास मार्ग पर बढ़ता गया, उसकी इस भावना सम्पदा ने गीत, कविता, वार्ता आदि की संज्ञाएँ ग्रहण की और बाद में ये अपने विशिष्ट रूपों में सजी संवरी। भाषा और भौगोलिक परिस्थितियों ने इन्हें रूप राग स्वर में भले ही कुछ बदला हो पर इनकी मौलिक एकरूपता और एकरसता में विशेष अंतर नहीं आया। आज यदि बारीकी से देखा जाय, तो बड़े–बड़े भू–भागों के विविध अंचलों के आदिवासियों के विचारों, विश्वासों, नृत्यों, गीतों, काव्य–वार्ताओं तथा सामाजिक–धार्मिक मान्यताओं में एक अद्‌भुत साम्य मिलेगा मानो वे एक ही परिवार के सदियों से बिछुड़े हुए टुकड़े हों, जिनमें केवल समय और भौगोलिक परिस्थितियों ने कुछ ऊपरी प्रमोद भर ला दिया है।[1]

भाषा विज्ञान की दृष्टि से देखें तो भारतीय आर्य भाषाओं में हिंदी का प्रमुख स्थान है। भाषा शास्त्र के विद्वानों ने भारतीय भाषाओं का अनुशीलन कर इन्हें अंतरंग तथा बहिरंग दो भागों में विभक्त किया है। अंतरंग भाषाओं की दो प्रधान शाखाएँ हैं (1) पश्चिमी शाखा और (2) उत्तरी शाखा। पश्चिमी शाखा के अंतर्गत पश्चिमी हिंदी (ब्रज), राजस्थानी, गुजराती और पंजाबी है। उत्तरी शाखा में पश्चिमी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी और पूर्वी पहाड़ी भाषाएँ परिगणित है। बहिरंग भाषाओं की तीन प्रधान शाखाएँ हैं– (1) उत्तरपश्चिमी शाखा (2) दक्षिणी शाखा और (3) पूर्वी शाखा। इस पूर्वी शाखा के अंतर्गत उड़िया, बंगला, असमिया और बिहारी भाषाएँ आती हैं। बिहारी के अंतर्गत तीन भाषाएँ प्रसिद्ध हैं– (1) मैथिली (2) मगही (3) भोजपुरी। इस प्रकार भोजपुरी बहिरंग भाषाओं की पूर्वी शाखा के अंतर्गत बिहारी भाषा की एक भाषा है जो क्षेत्र विस्तार तथा इसके बोलने वालों की संख्या के आधार पर अपनी बहिनों– मैथिली एवं मगही में सबसे बड़ी हैं।[2]

विद्वानों का अभिमत है कि बिहार की बोलियों का वस्तुत: बंगला से तथा हिंदी का राजस्थानी एवं पंजाबी से ही अति निकट का सम्बंध है।

यद्यपि साहित्यिक भाषा के रूप में बिहारी–भाषा–भाषी क्षेत्र में आज हिंदी की ही प्रतिष्ठा है तथापि बिहारी मैथिली, मगही एवं भोजपुरी बोलने वालों की अपनी–अपनी बोलियों के प्रति अत्यधिक ममता है। इन बोलियों के अनेक शब्द आज समर्थ बिहारी लेखकों द्वारा हिंदी में प्रयुक्त होकर उसे सशक्त बना रहे हैं। आज हिंदी तथा बिहार की इन बोलियों में किसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। ये वस्तुत: हिन्दी की पूरक ही हैं।[3]

प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार

Bhojpuri, or, if the word were strictly

असिस्टेण्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
मेल– mpsrchopasni@gmail.com

transliterated, Bhojapuri, is properly speaking the language of Bhojpur, the name of a Town and Pargana in the north-west of the District of Shahabad. It is a place of some importance in the modern history of India. The town is the original head quarters of the Dumraon Raj, and the battle of Buxar was Fought at Bagh sar a few miles to its west. Politically, it belongs rather to the United Provinces then to Bihar, although it is at present day included within the boundaries of the latter province. It was from its neighbour hood that the famous Bundelkhand heroes, Alha and Udan, traced their origin, and all its associations and traditions point to the west and not to the east.[4]

भोजपुरी भाषा के प्रसंग में डॉ. गियर्सन ने भोजपुरी लोगों की वीरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और इन्हें हिन्दुस्तानी में सभ्यता का प्रचारक कहा है। इस कार्य को इन्होंने अपनी सर्वशक्तिमती लाठी के जोर से, डण्डे के बल से किया है, यही इनकी प्रधान विशेषता है। भोजपुरी प्रदेश की गौरव गाथा का यशोगान करते हुए इस विदेशी विद्वान ने कितना समुचित तथा सटीक लिखा है कि

''शाहाबाद (आधुनिक भोजपुर) के जिला जहाँ ये भोजपुरिया निवास करते हैं को द्वितीय राजपूताना की संज्ञा दी जा सकती है। यह भूमि वीर क्षत्राणी भगवती देवी के रुधिर से पवित्र की गयी है जिसने अपने भाई को आततायी मुगलों के हाथों से रक्षा करने के लिए, जल में डूब कर अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया था। सन् 57 ई. के सिपाही विद्रोह में वीर तथा वृद्ध कुँवर सिंह ने शाहाबाद के राजपूतों का नेतृत्व किया था। यह भूमि वीर तथा रण-बाँकुरों का देश है।''[5]

ग्रियर्सन ने भोजपुरी प्रदेश की द्वितीय राजस्थान से तुलना कर इस मनीषी ने सचमुच ही भोजपुरी वीरता को एक ऐतिहासिक प्रतिष्ठा प्रदान की है।

इस आलेख में राजस्थानी और भोजपुरी लोकगीतों के उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया जायेगा कि इन भाषाओं में भावों की कितनी समीपता है। मोहनसिंह सेंगर के शब्दों में इन प्रतिक्रियाओं और भावोद्रेकों में एक अद्‌भुत साम्य है, क्योंकि इनका मूल स्रोत और परिस्थितयाँ जो एक हैं। ज्यों-ज्यों मानव-संस्कृति का रथ विकास मार्ग पर बढ़ता गया, उसकी इस भावना सम्पदा ने गीत, कविता, वार्ता आदि की संज्ञाएँ ग्रहण की और बाद में ये अपने विशिष्ट रूपों में सजी संवरी। भाषा और भौगोलिक परिस्थितियों ने इन्हें रूप राग स्वर में भले ही कुछ बदला हो पर इनकी मौलिक एकरूपता और एकरसता में विशेष अंतर नहीं आया।

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय का मानना है कि ''भोजपुरी प्रदेश कोई राजनैतिक इकाई नहीं है बल्कि यह वह सांस्कृतिक भूखण्ड है जिसने इस देश को राजनैतिक तथा सभ्यता के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वैदिक काल से ही यह क्षेत्र अपनी राजनैतिक तथा सांस्कृतिक महत्ता के लिए प्रसिद्ध रहा है।''[6]

भाषा वैज्ञानिक सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का अभिमत है कि ''आजकल की 'राजस्थानी' बोलियाँ, मारवाड़ी और ढूँढारी, मध्यदेश की भाषा (व्रज, खड़ी बोली) द्वारा विशेष रूप से प्रभावान्वित हुई है; मध्यदेश से कम से कम डेढ हजार वर्षों के घनिष्ठ संयोग का फल यह है। राजपूत राजाओं के कई प्रख्यात वंश के लोग गांगेय उपत्यका से राजस्थान की भूमि पर आ बसे थे; उत्तर से आये हुए इन क्षत्रिय तथा उनके साथ आने वाले ब्राह्मणादि जातियों के मनुष्यों के द्वारा राजस्थान की मौलिक तथा स्वतन्त्र बोली पर, मध्यदेश-गंगा-यमुना के देश की भाषा का प्रभाव पड़ता आया है।''[7]

प्रसिद्ध भाषा शास्त्री उदयनारायण तिवारी के अनुसार -

''मारवाड़ी के रूप में राजस्थानी का व्यवहार समस्त भारत वर्ष में पाया जाता है।''[8]

प्रस्तुत आलेख में राजस्थानी व भोजपुरी लोक गीतों का तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से हम उनकी समान भाव भूमि का परिचय पा सकेंगे।

होली के दिनों में राजस्थान (विशेषकर मारवाड़ में) जब होरियाँ गायी जाती है तो वीर रसात्मक होरियों में सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम में अंग्रेजों से लोहा लेने वाले ठाकुर कुशाल सिंह आऊवा को याद करते हुए चंग की थाप पर यह होरी आज भी गायी जाती है—

आउवा ने आसोप धणियां मोतियां री माळा ओ परी तुड़ावो कुंचियां तुड़ावो ताळा ओ झल्लै आउवौ।[9]

भोजपुर प्रदेश में कुंअरसिंह को स्मरण किया जाता है। कुंअर सिंह की युद्धनीति, युद्ध-कौशल और जनता के अपार

समर्थन ने अंग्रेजों के इरादों को भारी क्षति पहुँचाई। बिहार से लेकर वर्तमान उत्तर प्रदेश और मध्य प्रांत (रीवा आदि) की जमीन पर उन्होंने लंबी एवं साहसपूर्ण लड़ाई लड़ी। अपने जीवन की जो अंतिम लड़ाई 23 अप्रस्ल 1858 को जगदीशपुर में उन्होंने लड़ी, उसमें उन्हें पूरी सफलता मिली अंग्रेजों को पराजय का मुँह देखना पड़ा।[10]

फाल्गुन में जब हर गाँव की मण्डली में फाग गाना प्रारम्भ होता है तब सर्व प्रथम यह फाग गाया जाता है—

बाबू कुंअर सिंह तोहरे राज बिनु
अब न रंगइबौ केसरिया।
इतते आइल घेरि फिरंगी
उतते कुंवर दोउ भाई।
गोला बारूद के चले फिचुकारी
बिचवा में होला लड़ाई।
बाबू कुंअर सिंह तोहरे राज बिनु
अब न रंगइबो केसरिया।[11]

राजस्थानी लोक गीत

पोयी पोयी मां रोट्यां की जेट
अेक मंडकूल्यो पोयो लूण को
आयो आयो पीवरिया को काग
बो भी मंडकूल्यो ले गयो
कांई देखूं काळा मुख रा काग
बहोत दुखी म्हारी धीवड़ी[12]

अर्थ—माँ के लाड़ प्यार से पली पोसी पुत्री ससुराल में है। वह ससुराल के हाल बता रही है
माँ मैंने दर्जन भर रोटियाँ बनायी
और एक बनाया बचे हुए आटे का तीखा नमक का टिक्कड़ भी
माँ इतने में पीहर का काला कौवा आया
वह उस टिक्कड़ को भी ले उड़ा
मैं तो मुँह देखती रह गयी
कौवा उस रोटी को लेकर उस बेटी के पीहर ले गया और दिखाया उस बेटी की माँ को
माँ ने रोटी की शक्ल से ही पहचान लिया कि
काले काग में क्या देखूँ इस रोटी को
बहुत दु:खी है मेरी बिटिया

इन्हीं समान भावों को लिए भोजपुरी लोक गीत है –

सासू खाँची भर बसना मँजावे ली हो ना।
सासू पनिया पताल से भराव ली हो ना।
सब के खिआवौं भैया सब के पिआवौं हो ना।
भैया बाँचि जाली पिछली टिकरिया हों ना॥

अर्थ—हे भाई! सास मुझसे एक भरी टोकरी बर्तन नित्य साफ कराती है और गहरे कुएँ से पानी भराती है॥

उस पर, हे भाई, सब किसी को मुझे ही खिलाना पड़ता है। पानी भी मुझी को देना पड़ता है। इसमें सब खाना समाप्त हो जाता है। मेरे लिए केवल रोटी बनाते समय की पिछली रोटी की छोटी टिक्की बच रहती है।[13]

राजस्थान कृषि प्रधान प्रदेश है जहाँ बाजरा, मोठ, मूंग, गेहूँ, सरसों, जीरे की फसलें होती है। इसमें जीरे की फसल बड़ी नाजुक होती है। सर्दी के दिनों में जरा से बादल होने पर जीरे में रोग हो जाता है पत्तियाँ बंधने लग जाती है। पश्चिमी राजस्थान में जहाँ रेतीली भूमि है यहाँ जीरा बोया जाता है खेतों में बड़ी खुश्बू छा जाती है जीरे की फसल को देखकर प्रिया अपने पति से कहती है—हे प्रिय तुम जीरा मत बोओ। मैं पीला (पीले रंग की ओढ़नी) ओढ़कर जब जीरे के बीच गयी तो हरा भरा जीरा पीला पड़ गया। मेरे प्रिय जीरा मत बोओ। खेत में पानी देते-देते मेरे कड़ले (पैरों का आभूषण) घिस गये तुम जीरा मत बोओ। जीरा मेरे जी का बैरी है तुम जीरा मत बोओ।

राजस्थानी लोक गीत

मत भाओ म्हारा परण्या जीरो
जीरो पड़गो पीळो रे
पीळो ओढ जीरा में गी
जीरो पड़गो पीळो रे मत भाओ म्हारा परण्या जीरो
पाणत करती का कड़ला घसगा
मत भाओ म्हारा परण्या जीरो
जीरो जीव को बैरी रे
मत भाओ म्हारा परण्या जीरो

इन्हीं भावों को लिए भोजपुरी का एक गीत है जिसमें प्रिया अपने पीव से कह रही है कि तुम ईख मत बोओ

भोजपुरी लोक गीत

बेरी के बेरि तोहिं बरजों छएलवा,
उखिया जीन बोअ हो गोएँड़वा॥

कइए महीना लागे कोड़त खनत,

कइए महीना कोल्हुअड़िया॥

छव महीनवा में कोड़त खनत, बरीस दिना कोल्हुअड़िया॥

सोरहों सिंगार कइके गइलों कोल्हुवड़िया,

अंगरिया फेंकियार कोल्हुअड़िया॥[14]

अर्थ—पत्नी कहती है— हे प्रियतम! मैंने बार-बार तुमसे कहा कि ईख गाँव के निकट न बोया करों। इसको गोड़ने और सींचने तथा रखवाली करने में कितने महीने लग जाते हैं; और कितने दिन लगते हैं कोल्हू चलाने में इसको पेरने में और गुड़ बनाने में? छः महीने तो गोड़ने-गाड़ने में लगते हैं और साल भर कोल्हुआड़ का समय होता है।

यह साल भर का विरह मुझसे सहा नहीं जाता।

वर्षा ऋतु आयी है जिसमें बादल उमड़ घुमड़कर आ गये हैं यह धरती और आकाश के प्रिय और प्रिया के मिलन की ऋतु है। प्रिया बिजली से आग्रह कर रही है कि तुम मेरे प्रिय के देश पर जाकर चमको ताकि उन्हें पता चले कि पावस ऋतु आ गयी है और उनकी प्रिया भीगने का इंतज़ार कर रही है। ओ हो बदली मेरे पीव के देस पर जाकर बरसो राजस्थानी लोकगीत के भाव बड़े गहरे हैं जिनके आगे कवियों की काव्य कला भी फीकी लगती है—

जेठ असाढ इन्दर धर रायो

ओ हो म्हारे पीऊजी रे देस चिमक बिजळी

ओ हो म्हारे पीऊजी रे देस बरस बिजळी[15]

भोजपुरी में भी इन्हीं भावों को लिए हुए लोक गीत है जिसमें प्रिया बादल से आग्रह कर रही है कि तुम यहाँ मत बरसो—

कारिक पियरि बदरिया झमकि दइब बरसहु हो।

बदरी! जाइ बरसु ओही देस जहाँ पिया कोड़ करें हो।[16]

अर्थ—यह काले और पीले बादल उमड़ रहे हैं। झम झम करके मेघ बरस जाता है अरे! बादल तुम सब यहाँ मत बरसो! वहाँ जाकर बरसो जहाँ मेरे प्रियतम क्रीड़ा व्यवसाय करने गये हुए हैं।

राजस्थान में होली के दिनों में कृषक व श्रमिक महिलाएँ रात-रात-भर समूह में लूरें गाती हैं। उन्हीं लूरों में एक लूर प्राप्त हुई है जिसमें एक तरूणी कह रही है कि इस उफनते नव यौवन को मैं कैसे सम्हाल कर रखूं मेरा गौना जल्दी कर दो।

उफणतो छतिया रो जोबन कां में राखूं ओ कर दो मुकलावो।[17]

भोजपुरी में भी समान भाव भूमि का लोक गीत मिलता है

भोजपुरी बिरहा -

गोरि के छतिया पर उठेला जोबनवा

हँसेला सहरिया के लोग।

लेबू गोरि दमवा, देबू हो जोबनवा

तौरा से जतनवा ना होई॥[18]

छैल नीले घोड़े पर सवारी करता है

वह वीर है इसलिए उसका घोड़ा भी विशिष्ट है भोजपुरी लोकगीत

नीले नीले घोड़वा छयल असरवा

कुर खेते कुर खेते हनइ निसाण[19]

अर्थ—नीले घोड़े पर जो छैल सवार है, वह ऐसा वीर है कि मानो कुरूक्षेत्र के रण स्थल में वह विजय पताका फहरा रहा हो या शत्रु का निसान (झंडा) विध्वंस कर रहा हो।

राजस्थान के प्रसिद्ध लोक देवता रामदेवजी भी नीले घोड़े पर सवार हैं उनके घोड़े की लगाम मोतियों से जड़ी हुई है और भक्त उनकी इस छवि पर न्यौछावर जाते हैं-

लीलो जी घोड़ो तो थारै, कोई मोतीड़ां जड़ी रे लगाम वारि जाऊं बाबा नै[20]

राजस्थानी लोक गीतों में लोभी पिता का वर्णन मिलता है जिसने पैसों के लालच में अपनी नौ जवान बिटिया को किसी बूढ़े को ब्याह दिया इसी अनमेल विवाह का वर्णन प्रस्तुत लोक गीत में है—

चंवरी में बेठाय बाम्हण आछो धुंवो करियो ओ मायां मैं बैठाय पछतावो करियो वो क बूढो परणायो वा वा बूढो परणायो बाबलियो दमड़ा रो लोभी ओ बूढो परणायो।[21]

अर्थ—चंवरी में बैठा कर ब्राह्मण ने अच्छा धुंआ किया। माया के आगे बैठकर मैंने तो पछतावा किया क्योंकि मुझे बूढे को ब्याह दिया गया है। मेरा पिता पैसों का लोभी जो है उसने बूढे को ब्याह दिया। कितनी पीड़ा है परंतु नारी यहाँ भी मौन रहकर चुपचाप जहर को पी जाती है। यह सहनशीलता है।

भोजपुरी लोक गीत में भी पैसों के बदले बूढ़े के साथ ब्याहने का वर्णन मिलता है

बाबा पइसा के लोभे बिआह कइले।

बारह बरिसवा के हमरी उमिरिया,

अस्सी बरिसवा के बर खोजले॥[22]

अर्थ—लड़की कह रही है कि मेरा पिता पैसों का लोभी

है जो पैसों के बदले मेरा ब्याह बूढ़े के साथ करने जा रहा है उसने मेरा सौदा कर लिया है मेरी उम्र तो बारह बरस है और मेरा ब्याह अस्सी बरस के बूढ़े के साथ किया जा रहा है यह कैसा विवाह है अन्याय है। प्रस्तुत भोजपुरी लोक गीत में भी पैसों के बदले बूढ़े को ब्याहने का वर्णन मिलता है—

बाबा मतरिया मोर पइसा के राजी करेले बुढ़वा से सादी
आरे मोरे राजा! मैं थर थर काँपी॥ आरे मोरे राजा मो॥[23]

अर्थ—पैसों के लोभ में मेरे पिता ने मेरा विवाह बुड्ढे के साथ कर दिया है। मैं उसके डर से थर थर काँप रही हूँ।

शादी के बाद पुत्री की ससुराल के लिए विदाई का दृश्य बड़ा कारूणिक होता है। राजा जनक हो या कालिदास ऋषि सभी का हृदय द्रवित होता नजर आता है। पुत्री की विदाई के लोक गीतों में उसका आम, इमली, महुआ, कोयल, तोता के विभिन्न प्रतीकों से इस विदाई के गीतों का भाव सौन्दर्य निखर आता है—

भोजपुरी लोक गीत

अमवा से मीठ इमिलिया ए बाबा
बाबा महुआ में लागि गइले कोंच[24]

हे पिता! आम से मीठी इमली ही होती है; क्योंकि उसमें खटास मिश्रित मिठास है। हे पिता, महुआ में फल लग गये।

राजस्थानी में भी समान भाव भूमि का लोक गीत मिलता है—

आंबो पाक्यो ओ आमली
पाक्यो नींबूड़ा रो रूंख
म्हे थांने पूछा हो, राधा बाई।
इतरो बाबाजी रो हेत
छोड'र बाई सीध चाल्या[25]

आम पक गए हैं, इमली पक रही है और पेड़ पर नींबूओं में रस भर गया है। बाई! अपने पिता का इतना स्नेह छोड़ तुम कहाँ चल दी?

भारतीय नारी के अन्तरमन की अभिलाषा है, मातृपद पाना। भारतीय नारी की इसी अभिलाषा का प्रतीक है 'पीलो ओढ़ना' राजस्थानी लोक गीत 'पीळो' इन्हीं भावों को लिए हुए गाया जाता है—

दिल्ली ए सहर सैं सायबा पोत मँगावौ जी,
तो हाथ इकीसी गज बीसी गाडा मारू जी
पीळो रंगाद्यौ जी
पीळो तो ओढ म्हारी जच्चा पाटै पर बैठी जी,
तो देवर जिठाण्यां मुखड़ो मोड्यो गाडा मारू जी
पीळो भल ओढो जी[26]

भोजपुरी लोक गीतों में भी पीले (पिअर) का विशेष वर्णन मिलता है सीता राम से विनती करती हैं कि मैं ने कभी पीला नहीं ओढ़ा न ही कभी चौक पर बैठी हूँ अर्थात् मुझे पुत्र प्राप्ति नहीं हुई भोजपुरी लोक गीत लाल पिअर ना पहिरली, चउक ना बइठलीए हो।[27]

अर्थ—लाल पीले वस्त्र मैं नहीं पहन सकी, न चौक पर ही बैठ सकी।

कितनी गहरी बात इन पंक्तियों में है। सृजन की उत्कट अभिलाषा, भारतीय मातृत्व भाव इन लोक गीतों में प्रतीक रूप में आया है पीला दोनों ही प्रदेशों में इन्हीं सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में वर्णित हुआ है—

ना कबों बोलेली पहिरबि
पीअरी के खोलेलि हो।
ए बबुआ गोद ना खेलवली होरिलवा
लालसवों ना पूजेला हो।[28]

अर्थ—न तो उसने कभी कुछ पहनने को कहा और नहीं कभी पीला वस्त्र ही पहिना।

इस पर कौशल्या बोली कि हे पुत्र! मैंने अपनी गोद में कभी पौत्र नहीं खेलाया इसलिए मेरी लालसा पूरी नहीं हुई।

महान भक्त कवयित्री मीरां तो सम्पूर्ण विश्व में जानी जाती है परंतु उनके मूल पदो की भाषा राजस्थानी में भी मेड़ताटी (मेड़ता क्षेत्र) का पुट लिए हुए है। 'मीरां पदावली' में भी मीरां का जो पद प्राप्त हुआ है उसमें मीरां अपने प्रिय कृष्ण को ढूंढती नजर आती है परंतु वे नहीं मिले।

मीरां पदावली का पद
वै न मिले जिनकी हम दासी।
पात पात बृन्दाबन ढूंढ्यौ ढूंढि फिरी सगरी मैं कासी॥1॥
कासी कौ लोग बढ़ो बिसवासी मुख में राम
बगल में फांसी॥2॥
आधी कासी मैं बांमण बणियां आधी
कासी बसें सन्यासी॥3॥
मीरां के प्रभु हरि अबिनासी हरिचरणां की रहौं मैं दासी॥4॥[29]

भोजपुरी लोक-गीत

ऊ ना मिलले जिनकर हम दासी।
कासी के लोग बड़ा अविसासी,

प्रीति लगा के लगावें रे फाँसी॥

ऊ ना मिलेले ऊ ना अइले जिनकर हम दासी॥[30]

अर्थ—मैं जिनकी दासी हूँ, वे नहीं मिले। काशी के रहने वाले बड़े अविश्वासी आदमी होते हैं। वे प्रेम करके दूसरे के गले में फाँसी लगा देते हैं, पर अपने निकल भागते हैं। हाय! वे, जिनकी मैं दासी बनी, वे नहीं मिले।

''भोजपुरी के प्राण-प्रतिष्ठा शिखर पर कइसे कइल जाव, एह दिशा में। भोजपुरी के स्वस्थ विकास खातिर ओकरा भाषा अउर साहित्य जीवन-पद्धति, लोक साहित्य, लोकपर्वन, लोकाचारन, लोकगीत अउर गाथा, लोक संगीत-नृत्य आ कला सहित ओकर लिखित प्रकाशित अउर वाचिक परम्परा के सम्पूर्ण ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सम्पदा आ वैभवशाली विरासत के अनुसंधान-अनुशीलन आ अध्ययन, मूल्यांकन, ओकर संग्रहन अउर संरक्षण के समन्वित आ योजनाबद्ध प्रयास के ज़रूरत बा।[31]

संदर्भ -

1. 'सम्मेलन पत्रिका' लोक संस्कृति विशेषांक लोक संस्कृति की रूपरेखा श्री मोहनसिंह सेंगर का आलेख तृतीय संस्करण सन् 1995 हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग पृ. 99-100
2. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास षोडश भाग हिंदी का लोक साहित्य संपादक महापंडित राहुल सांकृत्यायन डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय नागरी प्रचारिणी सभा काशी सं. 2017 वि.पृ. 85
3. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास : उदयनारायण तिवारी लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद सन् 1995 पृ. 230
4. Linguistic Survey of India Vol - V Indo - Aryan Family Eastern Group PART II Edited by G.A. Grierson Motilal Banarsidass Delhi 1968 Page 40
5. भोजपुरी लोक संस्कृति : डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद सन् 1989 ई. पृ. 369-370
6. वही पृ. 24
7. राजस्थानी भाषा : अध्यापक श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य शोध संस्थान राजस्थान विश्वविद्यापीठ उदयपुर मई सन् 1949 ई. पृ. 56-57
8. भारत का भाषा सर्वेक्षण खण्ड 1 भाग-1 लेखक-सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन अनुवादक-उदयनारायण तिवारी प्रकाशन शाखा सूचना विभाग उत्तर प्रदेश प्रथम संस्करण 1959 ई. पृ. 324
9. राजस्थान का होरी एवं लूर साहित्य : डॉ. जयपाल सिंह राठौड़ सुधन प्रकाशन जोधपुर सन् 2002 पृ. 88
10. कुंअर सिंह और 1857 की क्रांति : डॉ. सुभाष शर्मा अनंत कुमार सिंह, जवाहर पाण्डेय राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत पांचवीं आवृत्ति सन् 2017 पृ. 6
11. लोकगीतों और गीतों में 1857 संपादन मैनेजर पाण्डेय राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत पहला संस्करण 2015, पृ. 32
12. लूर अंक 13-14, सं. डॉ. जयपाल सिंह राठौड़ वर्षा लोक गीत विशेषांक पृ. 74
13. भोजपुरी लोक-गीत में करूण रस पृ. 558-59, 562
14. भोजपुरी लोक-गीत में करूण रस : श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग 1965 ई., पृ. 292
15. लूर सं. डॉ. जयपाल सिंह राठौड़ वर्षा लोक गीत विशेषांक जनवरी-दिसम्बर 2009 पृ.87
16. भोजपुरी लोक गीत में करूण रस : श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग सन् 1965 ई. पृ. 139-40
17. लूर : सं. डॉ. जयपाल सिंह राठौड़ जनवरी-जून 2003, पृ. 54
18. भोजपुरी लोक गीत भाग 1 डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग सन् 1990, पृ. 23
19. भोजपुरी लोक गीत में करूण रस : वही पृ. 500
20. बाबा रामदेव इतिहास एवं साहित्य : डॉ. सोनाराम बिश्नोई राजस्थानी ग्रंथागार प्रकाशन 1.9.2008 पृ. 438
21. लूर सं. डॉ. जयपाल सिंह राठौड़ लूर नृत्य गीत विशेषांक जनवरी-जून 2003 पृ. 128
22. भोजपुरी लोक गीत में करूण रस वही पृ. 347
23. वही पृ. 306
24. वही पृ. 488-89
25. राजस्थान के सांस्कृतिक लोक गीत : पद्मश्री लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत श्याम प्रकाशन, जयपुर सन् 2000, पृ. 90-91
26. लोक साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा : डॉ. मनोहर शर्मा रोशनलाल जैन एण्ड सन्स जयपुर सन् 1971, पृ. 78
27. भोजपुरी लोक गीत में करुण रस वही पृ. 111-112
28. भोजपुरी लोक-गीत भाग-1 डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सन् 1990, पृ. 358
29. मीरां बृहत् पदावली भाग-1 सं. हरिनारायण पुरोहित राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, पुनः प्रकाशन 2004, पद सं. 564 पृ. 281
30. भोजपुरी लोक गीत में करूण रस वही पृ. 320-321
31. व्याख्यान भोजपुरी के प्राण प्रतिष्ठा शिखर प कहसे कहल जाँव मीरा कुमार माननीया अध्यक्ष लोक सभा 20-11-2010 काशी हिंदू विश्वविद्यालय भोजपुरी जनपद संपादक—अवधेश प्रधान प्रवेशांक अक्टूबर 2012, पृ. 7 पर प्रकाशित।

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' प्रणीत 'कैकेयी' महाकाव्य में नूतन उद्‌भावना

डॉ. जयश्री बंसल*

कैकेयी जैसे घोर उपेक्षित एवं युग प्रताड़ित चरित्र को नवीन क्षितिज प्रदान करने वाले केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का परिचय हिन्दी पाठकों के लिए भी अजनबीपन के घेरे में आबद्ध रहा है। 'कैकेयी' महाकाव्य का प्रणयन कर उन्होनें युग-युग से उपेक्षित, लांछित एवं अनादृत चरित्र का उद्धार करने का बीड़ा उठाया। कैकेयी जैसी कलंकित नारी के चरित्र को लेकर महाकाव्य निर्माण का जोखिम बिरला ही उठा सकता है।'साकेत' में गुप्त जी ने प्रथम बार कैकेयी के चरित्र का प्रक्षालन अवश्य किया, किन्तु उसे महाकाव्य की प्रधान पात्र बनाकर उसके चरित्र के पूर्ण प्रकाशन का पावन कार्य 'प्रभात' जी के हाथों ही सम्पन्न हुआ।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, कुशल प्रशासनिक अधिकारी प्रभात जी ने अनेक काव्य ग्रंथों का सृजन किया। 1928 में प्रथम काव्य संग्रह 'कलेजे के टुकड़े' से लेकर 1954 में 'तप्तगीत' और 'ऋतम्भरा' (प्रबंध काव्य) तक उनकी यह काव्य यात्रा विविध चरणों से होकर गुजरती है। उनके काव्य रचना कर्म में गीत संग्रह (ज्वाला, श्वेतनील, कलापिनी, कंपन, चिरस्पर्श), गीतिनाट्य् (संवर्त, स्वर्णोदय), और प्रबंधकाव्य (कैकेयी, कर्ण, ऋतंबरा, तप्तगृह, शुभ्रा, राष्ट्रपुरुष, प्रवीर और व्रतबद्ध) इत्यादि ग्रंथ प्रमुख हैं।[7]

श्री पालसिंह 'क्षेम', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' के व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन करते हुए हिंदी साहित्य कोश भाग-2 में लिखते हैं, ''प्रभात जी प्रशासकीय सेवा विभाग में रहकर भी साहित्य साधना करते रहे हैं। गीत रचना के क्षेत्र में उन्हें चाहे अधिक महत्त्व न दिया जाये, पर प्रबन्धकारों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'छायायुगीन' कवियों में उनकी देन अनुपेक्षणीय है। उनकी रचना का आधार भावुकता और कल्पना से अधिक अनुशीलन और चिंतन है।''[1]

'कैकेयी महाकाव्य में कवि ने मौलिक उद्‌भावना का परिचय दिया है। कैकेयी के जिस चरित्र को रामकथा के अन्य रचनाकारों ने कुत्सित रूप में प्रस्तुत किया था, उसे प्रभात जी ने नया आयाम प्रदान किया। कैकेयी को एक राष्ट्रमाता के रूप में उभारा गया। प्रभात जी की इस प्रबंध में मान्यता है कि ''कैकेयी ने राम को रावण के विरूद्ध अभियान का नेता बनाया। दशरथ की असमर्थता में यह उनकी प्रतिभा का उज्ज्वल प्रमाण है।''[2]

'प्रभात' जी ने 'कैकेयी' महाकाव्य में नारी को अपने काव्य की प्रमुख नायिका बनाकर आधुनिक युग में नारी के स्वरूप परिवर्तन और स्वतंत्र व्यक्तित्व की घोषणा की है । युगों से दलित, उपेक्षित और पीड़ित नारी का स्वरूप इस महाकाव्य में अपने समस्त कालुष्य को धोकर स्वच्छ, निर्मल और पवित्र रूप में प्रकट हुआ है। 'कैकेयी' के महाकवि ने कैकेयी जैसी महिमामयी, ममतामयी व पवित्रता नारी के उपेक्षित, कलंकित व अनादृत व्यक्तित्व को काव्य का विषय बनाकर उसके त्याग का सच्चा मूल्यांकन किया है।

1. कथा का मूल स्त्रोत

'कैकेयी' जैसे चरित्र को लेकर कुछ भी कहने सुनने का एक पुष्ट आधार 'रामायण' ही है।'प्रभात' ने भी 'कैकेयी' महाकाव्य का प्रणयन 'वाल्मीकि रामायण के कुछ अंशों से कैकेयी जैसे उपेक्षित व प्रताड़ित चरित्र को लेकर महाकाव्य सृजन की प्रेरणा प्राप्त की।

'प्रभात' ने कैकेयी का अध्ययन करके पाया कि उसके जैसी वीर, क्षत्राणी, आदर्श पत्नी जिसने अपने पति के साथ न केवल युद्ध में भाग लिया अपितु उसकी प्राणरक्षा भी की, जिसके परिणामस्वरूप दशरथ ने कैकेयी को दो वर मांगने को कहा। वही निर्मल मानस वाली, स्वस्थ प्रकृति की धीरा-गम्भीरा कैकेयी एकाएक प्रतिक्रिया की प्रचण्ड आंधी की शिकार होकर निकृष्टा के ऐसे बिंदु पर कैसे पहुँच गई। यदि वह साधारण मस्तिष्क व भावुक हृदय वाली नारी होती तो ये संभव भी था। किन्तु कैकेयी जैसी दृढ चरित्र स्वामिनी एक दासी के लगाने,

सहायक प्राध्यापक, मानव संसाधन विकास केंद्र, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर (मध्यप्रदेश), भारत
ई-मेल : dr.jayshribansal@gmail.com

बहकाने में आकर अपने दायित्वों से विमुख हो जाये, यह गले से उतरता नहीं।

कैकेयी के सृष्टा को, राम के राज्याभिषेक के समय होने वाले अनार्यों के आक्रमण (जिनके ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं) से अपने चिन्तन के पक्ष में अनुकूलता मिली है। रामायण काल के कुछ इतिहासवेत्ताओं ने भी अनार्यों का आर्यों पर आक्रमण, इस तथ्य की पुष्टि की है। वाल्मीकि रामायण में भी इस संबंध में खोजने पर कुछ प्रकरण प्राप्त होते हैं।

2. कथा में नूतन उद्‌भावना

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने कैकेयी नामक महाकाव्य का सृजन कर साहित्य के क्षेत्र में क्रांति का उद्घोष किया है। जिस तरह गुप्त जी ने 'साकेत' व 'यशोधरा' काव्यों का निर्माण कर उर्मिला व यशोधरा जैसे महान, त्यागी व उज्ज्वल चरित्रों को उपेक्षा के भंवर से निकाला। इसी तरह प्रभात ने भी युग-युग से उपेक्षित प्रताड़ित, कलंकिनी कैकेयी को एक नवीन आयाम एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करते हुए इस पर महाकाव्य निर्माण का जोखिम उठाया।

बंधी बंधायी लीक पर चलना तो हर व्यक्ति जानता है, किन्तु परम्पराओं का प्रतिवर्जन कर एक नवीन मार्ग प्रशस्त कर सकना हर एक के बस की बात नहीं। इतिहास सभी पात्रों के साथ न्याय नहीं कर पाता, इस अन्याय का प्रतिकार वर्तमान का कर्तव्य एवं आवश्यकता है। कैकेयी महाकाव्य इतिहास एवं उसके पात्रों का नूतन व मनोवैज्ञनिक आयामों से अध्ययन जैसे ज्वलंत प्रश्न का समाधान खोजने का एक वंदनीय प्रयास कहा जा सकता है।

भारतीय महकाव्यों में कैकेयी का चरित्र सर्वाधिक लांछनीय और अनादृत रहा है। महारानी और मां होते हुए भी उसे अपने परिवार, समाज और उत्तराधिकारों की श्रद्धा नहीं मिली। उसे लक्षित करते हुए शांतिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है कि, ''कैकेयी समस्त भारत की सबसे उपेक्षित दुर्बल नारी है। इस एक अबला को सहस्त्रों युगों से, कवियों द्वारा ही नहीं, जनसाधारण द्वारा भी जितनी घृणा, लांछना, अवहेलना और प्रताड़ना मिलती आ रही है। उतनी संसार के इतिहास में किसी भी नारी को नहीं मिली होगी।''[3]

रामायण में कैकेयी के घृणित स्वरूप के विषय में कवि 'प्रभात' के मस्तिष्क में प्रतिवाद उठ खड़ा हुआ और सही चिंतन तथा अनुभव के आधार पर रामायण की कैकेयी के विपक्ष में उन्होंने अनुमान लगाया। उसे अपने अनुमान उचित तथा सार्थक प्रतीत हुए। कवि को अपने प्रत्यक्ष कारक दिखाई पड़े, जिससे उसे वास्तविकता का अनुभव हुआ। कैकेयी की सद्‌वृत्ति इसका एक प्रमुख प्रमाण कवि को यह मिला कि राम के राज्य अभिषेक काल में अनार्यों का उत्पात इस कदर तेज हो रहा था कि आर्य संस्कृति खतरे में पड़ी प्रतीत हो रही थी। उनके युद्ध भीषण रूप धारण कर रहे थे। जैमिनी भारत के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। कैकेयी का राम को चौदह वर्ष का निश्चित अवधि के लिए वनवास भेजना मन में तर्क-वितर्क को जन्म देता है। निश्चित चौदह वर्ष की अवधि कैकेयी के किसी सुस्थिर संकल्प को व्यंजित करती है। अत्रे, सातवलेकर आदि इतिहासकारों के अध्ययन कैकेयी के महाकवि की धारणा की पुष्टि करते हैं।

वाल्मीकि रामायण के ऐसे प्रसंग भी उसके इस चिंतन को मजबूत करते हैं कि राम को वन भेजने में कैकेयी का राष्ट्रीय स्वार्थ था, वैयक्तिक हित कामना नहीं और इसके पीछे उसकी निश्चित योजना सशक्त थी। ऐसे ही कुछ आधार प्रत्यक्ष होते हैं जिनसे कैकेयी की सोद्देश्यता में अविश्वास का प्रश्रय नहीं रह जाता है। अंतत: निदान कैकेयी के पक्ष में होता है और अनार्यों आरण्य ऋषि तपस्वियों के बधिकों का नाश कर, राम को अनुकरणीय, आदर्शवान, यशस्वी बनाना ही उसका लक्ष्य प्रकट होता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काव्य की उपेक्षिताओं में उर्मिला, प्रियम्वदा, अनुसूया और पत्रलेखा की गणना की है। उन्होनें भी अभागिनी कैकेयी को छोड़ दिया है। इस दिशा में समस्त भारतीय वांड्मय को हिंदी साहित्य का आभार मानना चाहिए जिससे 'प्रभात' जी ने उसके चरित्र पर महाकाव्य का निर्माण किया। 'प्रभात' जी से पूर्व 'साकेत' में गुप्त जी ने कैकेयी के चरित्र को नवीन सृष्टि दी किन्तु उर्मिला के चरित्र की प्रधानता से विवेचना के कारण कैकेयी का चरित्र विशेष विस्तार नहीं पा सका। कैकेयी के पश्चाताप की आवश्यकता न वाल्मीकि ने महसूस की और न तुलसी ने। वाल्मीकि रामायण में भरत द्वारा कैकेयी की भर्त्सना अवश्य करायी गयी—

सा त्वभार्गग्नं प्रविशा वा स्वयं वा विश दण्डकान् ।
रज्जुं बद्‌हवाथवा कंठे नहिं तेऽन्यत्वपरायणम्॥[4]

कैकेयी के पश्चाताप और ग्लानि का अत्यन्त पावन चित्र पहली बार साकेत में प्रस्तुत किया गया है। इस सन्दर्भ में डॉ. शास्त्री का यह कथन द्रष्टव्य है कि, ''साकेत के कारुण्य कलित पात्रों में कैकेयी का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। कैकेयी के चरित्र का अभिनव सृजन मात्र इस काव्य को अमर बनाने को पर्याप्त है।''[5]

साकेत' की कैकेयी का चरित्र चित्रण पढ़कर उसके प्रति

परम्परा से जमी सारी घृणा पिघल कर बह जाती है। उसके प्रति सारा मालिन्य धुल जाता है। साकेत में कैकेयी फिर भी एक सहायक नारी पात्र है, जो सामान्य होकर भी दृष्टि की नवीनता के कारण विशिष्ट बन गई है, उसे मुख्य पात्र के रूप में स्थान नहीं मिला है। 'प्रभात' जी ने 'कैकेयी' काव्य में इस चरित्र को व्यापक पृष्ठभूमि पर चित्रित किया है। कैकेयी वरदान मांगने के पूर्व वीर क्षत्राणी, आदर्श पत्नी और अनुकरणीय माता है फिर अचानक हुए उसके चारित्रिक पतन के कारणों की कवि ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से खोज की है।

कैकेयी राष्ट्रीय काव्य परम्परा में बुद्धि और हृदय का समन्वयात्मक राग स्थापित करती है। इस राष्ट्रीय कृति में बुद्धि, विचार और चिंतन की मनोवैज्ञानिकता अधिक है। कैकेयी के चरित्र विकास के लिए कवि ने अनार्यों के अत्याचार से भारत को मुक्ति दिलाने की राष्ट्रीय भावनाओं का समावेश कराया है। वह अनार्यों के अत्याचार की चिंता से त्रस्त एक रात यह स्वप्न देखती हैं कि सम्पूर्ण साकेत उस अत्याचार की ज्वाला में जलता राम को पुकार रहा है और वह तड़प उठती है—

जलता युग पूजित राजमहल
जलता युग संचित यश उज्ज्वल
जल रहा है आर्य इतिहास धवल
जल रही आर्य सभ्यता विफल।[6]

'प्रभात' कैकेयी में क्रांति की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। तेजोज्ज्वल क्रांति, शीतल शांति की विधात्री है। समय और युग के अनुसार क्रांति की बदलती परिभाषा को निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट किया है—

आज चाहिए क्रांति की जिसमें, सहज शांति है रहती
सृजन करो नूतन जग का, जिसमें राजनीति यह कहती।[7]

क्रांति बिना होने वाली शांति को कवि अस्थिर, अस्तित्वहीन, उग्र क्रांति का आह्वान सूचक और अशांति का मूल मानता है।

जहां वाल्मीकि व तुलसी ने कैकेयी के पुत्र मोह व हित रक्षार्थ राम वनगमन का प्रसंग उपस्थित किया है वहीं प्रभात की कैकेयी राष्ट्र परवशता को परख लेती है, जिनका कर्तव्य क्षेत्र संसार होना चाहिए। वे सिंहासन के बंधन में जकड़े रहते हैं। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर उसने यह अनुभव किया कि राम का कर्तव्य उसे कठोर बंधनों व परवशताओं में जकड़ने जा रहा है, जो कि सर्वथा अनुचित और अग्राह्य है—

वह राम बने अब, बंदी सिंहासन का
पर्याय न क्या यह, राजतिलक बंधन का।[8]
है क्षेत्र राम का जहां, दृगों के मोती लुटते
शोणित से लाल धरित्री होती।[9]

कैकेयी के मन में एक ओर जहां युग के प्रति अपने कर्तव्य की भावना जागृत होती है वहीं दूसरी और प्रभात ने ममत्व को भी उजागर करते हुए द्वन्द्व की अवधारणा की है, कैकेयी का व्यष्टि मन कहता है कि राम को राज्य भोगने दो, वह मेरा ही बेटा है। व्यष्टि अचेतन मन अपने परिवार का सुख चाहते हुए दुर्बलता पैदा करता है।

सुत का मंगल सुख सुत का, हे राम तुम्हारी जय हो।[10]

सामूहिक या समिष्ट अचेतन मन कैकेयी को आर्य सभ्यता संस्कृति और आर्यावर्त की सुरक्षा के लिए राम को वन भेजने का षड्यंत्र करने के लिए प्रेरित करता है—

एक ओर राज्याभिषेक के उत्सव का उल्लास महान।
और दूसरी ओर सभ्यता ओर संस्कृति का अंतिम आह्वान।
एक और कामना कि राजा बने लोकप्रिय राजकुमार
और दूसरी ओर प्रश्न क्यों बने नरक मानव संसार।[11]

इस मानसिक संघर्ष में सामूहिक अचेतन मन की विजय होती है। राम के प्रति अशेष मोह को अपने मन की कोमलता को राष्ट्र हित के लिए दबा कर संकल्प करती है कि–

मैं भव की आशा को रोने नहीं दूंगी,
राम को बंदी नहीं बनने दूंगी।[12]

पूर्ववर्ती काव्यों के कोप भवन में कैकेयी जब महाराजा दशरथ से दो वरदान मांगती है तो दशरथ हतप्रभ हो जाते हैं और कैकेयी अपनी टेक पर इतनी कठोरता से खड़ी रहती है कि दशरथ को अपने अनुकूल नहीं बना पाती। प्रभात ने दशरथ के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त परिमार्जन किया है, जो कैकेयी को नये रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। कैकेयी को आंठवें सर्ग में दशरथ की सहानभूति प्राप्त होती है और वे न केवल सहर्ष राम वनगमन की अनुभूति दे देते हैं अपितु कैकेयी की उदार, अतुलनयी राष्ट्रीय प्रवृति से प्रभावित होकर उसे राम की माता होने का गौरव प्रदान करते हैं।[13] कवि की इस कल्पना में जो आवेग या आवेश है सर्वथा परिष्कृत और विशिष्ट गुण का वाहक है।

सेवा, शासन और कर्तव्य इन तीनों का तार्किक व मार्मिक विश्लेषण कैकेयी के नवम् सर्ग की अपनी विशेषता है, जिसके आधार सर्वथा नवीनता के द्योतक हैं। इस सर्ग में राम ने स्वयं को स्पष्टतापूर्वक अभिव्यक्त करते हुए कैकेयी के मन्तव्य को आत्मसात किया है—

माता कैकेयी स्वर में
युग बन जो मुझे पुकार रहा
पल छीन के नयन खोल

कब से जो मुझे निहार रहा
वह तो जीवन का ज्योति लग्न
वह तो भविष्य का मंगल है
बन रहा वही मेरा प्रदीप
मेरे प्राणों का सम्बल है।[14]

कैकेयी में सेवा, शासन, कर्तव्य व चेतना को ही एक सुनिश्चित रूप नहीं दिया गया है, वरन धर्म, सभ्यता व संस्कृति को भी एक प्राणवान आकार दिया गया है और उसकी व्याख्या एक नये ढंग से की गई है। कैकेयी के कवि ने प्रारम्भिक महान उदार विचारक की दृष्टि अपनाते हुए धर्म और संस्कृति इन दोनों शब्दों का विश्व बन्धुत्वमूलक अर्थ ग्रहण किया है। कहीं उसकी व्यख्या सिकुड़ कर व्यक्त नहीं हुई हैं। कवि भारतवर्ष के मूल आदर्शों की पृष्ठभूमि में इन दोनों शब्दों का सुदृढ़ आधार व इनका महत्त्व अच्छी तरह जानता है। धर्म और संस्कृति को निश्चित मापदंड प्रदान करना आज के राजनितिक प्रधान युग में आसान कार्य नहीं, किन्तु धर्म और संस्कृति की वे मौलिक विशेषताएँ जो समय के तमाम परिवर्तनों के बाद भी कायम रहती है, प्रभात ने कैकेयी में व्यक्त की है—

धर्म राष्ट्र की प्राण श्वास, सभ्यता श्वास का स्पंदन है।
धर्म राष्ट्र के भव्य भाल का तिलक सभ्यता चन्दन है।
धर्म राष्ट्र का गौरव, दीप सभ्यता जय ज्वाला
धर्म राष्ट्र का सूर्य, सभ्यता कोमल कनक किरण माला।[15]

तुलसीदास जी ने जहाँ चित्रकूट में भरत-राम के मिलाप के स्थान पर जब जनक के आने का समाचार पहुँचा तब 'सुनत जनक आगमन हरखेउ अवध समाज' किन्तु 'गरइ ग्लानि कुटिल कैकेयी' और 'रामहिं मिलत कैकेयी हृदय बहुत सकुचानि' जैसे विचारों को अभिव्यक्ति है।[16] इसके विपरीत प्रभात की कैकेयी अपने ऊपर लगाये गये लांछन का प्रतिकार करती है। भरत की भर्त्सना का उतर जिस रूप में देती है, उसमें उसके त्याग की झांकियां देखने को मिलती हैं कि किस प्रकार उसने दुनिया को अमृत देने के लिए स्वयं हलाहल (कलंक का गरल) का पान किया है—

नारी और सुहाग वत्स। तू जगा न सोयी ज्वाला
अमृत पिये संसार, अमृत की जय, मैंने पी हाला।[17]

राम बनवास का रहस्य भी कैकेयी द्वादश सर्ग में उजागर करते हुए भरत को सत्य से अवगत कराती है—

राम वनगमन निर्वासन है, यह असत्य है भारी
पाप सोचना भरत! कि तू है, सिंहासन अधिकारी।[18]

इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है की भरत का यह सोचना भी पाप है कि वह सिंहासन का अधिकारी है।

इस प्रकार कवि ने इस दोष का भी परिमार्जन किया है जो कैकेयी पर सदियों से लादा जा रहा है कि उसने अपने पुत्र को राजा बनाने के लिए स्वयं राजमाता कहलाने के लोभ में आकर ऐसा घृणित व निन्दनीय कार्य किया। 'साकेत संत' की कैकेयी के दोष को मिटाने के लिए कवि पं. बलदेव प्रसाद मिश्र ने भरत के मामा का सहारा लिया है। वहां एक चरित्र को बचाने के लिए दूसरे को बदनाम करना, नयापन लिए हुए भी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।[19] इन सब के विपरीत प्रभात की कैकेयी अपने कर्तव्य को पूरा कर भरत को भी उसके कर्तव्य का बोध कराती है—

वत्स! राम के पदचिन्हों का स्वर सुन, क्यों सोता है?
जाग, देख, कर्तव्य क्षेत्र कैसा दुर्गम होता है।
तेरे मन में दुर्बलता का, दृग में जल का आना
है अपमान रक्त का मेरे, भरत! न तू ने जाना।[20]

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते कि पं. केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने अपने महाकाव्य 'कैकेयी' में कथानक तो मानस का ही लिया है, किन्तु कैकेयी के चरित्र के परिमार्जन के लिए कथा में नये तत्वों का समावेश किया है। आर्यों पर अनार्यों के आक्रमण की पृष्ठभूमि लेकर राम को वन भेजने के कैकेयी की राष्ट्रीयता दिखलायी है। शिल्प की दृष्टि से यह कथा प्रधान नहीं चरित्र प्रधान काव्य है। कथा की दृष्टि से नवयुग के अनुसार राष्ट्रीय और मानवतावादी दृष्टिकोण दर्शनीय है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'कैकेयी' महाकाव्य में कवि ने अनेक मौलिक व सर्वथा नवीन उद्‌भावनाएं की हैं।

सन्दर्भ

1. हिंदी साहित्य कोश, भाग-2, पृ.101 व 102.
2. वही, पृ. 101.
3. द्विवेदी, शांतिप्रिय—कवि और काव्य, पृ.123.
4. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, 74/33.
5. शास्त्री, डॉ. धर्मेंद्र—गुप्त जी के काव्य की कारुण्य धारा, पृ. 71.
6. प्रभात, केदारनाथ मिश्र—कैकेयी, द्वितीय सर्ग.
7. वही, द्वितीय सर्ग, पृ. 20-21.
8. वही, पंचम सर्ग, पृ. 51.
9. वही, पंचम सर्ग पृ. 52.
10. वही, चतुर्थ सर्ग पृ. 41.
11. वही, पृ. 42.
12. वही, पृ. 55.
13. वही, अष्टम सर्ग, पृ. 95.
14. वही, नवम सर्ग, पृ. 105.
15. वही, प्रथम सर्ग.
16. शुक्ल रामचंद्र—चिंतामणि, भाग-1, पृ.37.
17. प्रभात, केदारनाथ मिश्र ङ्क कैकेयी.
18. वही, द्वादश सर्ग, पृ. 131.
19. मिश्र, पं. बलदेव प्रसाद—साकेत सन्त.
20. प्रभात, केदारनाथ मिश्र—कैकेयी, द्वादश सर्ग, पृ. 132.

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

प्रासंगिकता का सवाल और भक्ति काल

डॉ. क्रान्ति बोध*

भक्ति काल के अध्ययन का संकट दरअसल अध्यापक की आलोचना पद्धति है। यह भक्ति काल को इकहरे तौर पर बरतते हुए इसके द्वंद्व/ अंतर्विरोध/ ऐतिहासिकता और संघर्ष की बजाय दिव्य/ महान/ मोक्ष—रहस्य/ पारलौकिक के सांचे में ढाल कर इसे प्रश्नातीत बनाए दे रही है। और इस्लाम का खतरा वह तो खैर जस का तस है और किसी भी समय लगाया जा सकता है। शायद इसी को शुक्ल जी आध्यात्मिक ढंग के चश्मे का सस्ता होना कहते हैं।

नित्यानंद तिवारी अपने एक लेख में लिखते हैं कि ''जीवन में कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका जवाब आगे का इतिहास और समाज देता है और ऐसे प्रश्नों को पैदा करने वाला साहित्य महान और बड़ा होता है चाहे वह किसी भी काल का क्यों ना हो।''[1] तब हमें भक्ति काल की पड़ताल के संदर्भ में यह देखना होगा कि वह ऐसे कौन से प्रश्न हमारे लिए छोड़ रहा था जिसका जवाब हमारे समय- समाज में ऐतिहासिक रूप से खोजा जा सकता है या हमारे समय के ऐसे कौन से हालात या प्रश्न हैं जिनकी कुंजी हमें भक्ति काल में मिल सकती है। यानी कि प्रासंगिकता और विरासत के सवाल पर भक्ति काल के सूत्रों से आधुनिक काल के व्यक्ति को क्या नहीं समझ मिल सकती है तथा आज का पाठक भक्ति कालीन कविता की व्याख्या किस प्रकार कर सकता है। क्योंकि यह मात्र संयोग नहीं हो सकता कि कोई भी आलोचक भक्ति काल से टकराए बगैर अपनी साहित्यिक मान्यताओं की स्थापना नहीं करता याकि भक्ति कविता अपने सजग पाठक के सामने हर बार नए एवं गंभीर सवाल न खड़े कर देती हो।

यह तो लगभग निर्विवाद है कि भक्ति साहित्य अपने साहित्य चेष्टा में इतना विशद है कि उसमें हर प्रकार के सामाजिक गतिशीलता के विचार—प्रमाण मिल जाते हैं। उसमें अंतर्द्वंद्व और अंतर्विरोध का भी बहुतायत है इसीलिए इसकी व्याख्या की संभावनाएं भी सर्वाधिक हैं। सामाजिक संघर्ष का इसका प्रमुख एजेंडा हर बार आकर्षित करता है तो प्रेम और लोक के प्रति इसका जबरदस्त आग्रह किसी भी वर्ग, स्तर और श्रेणी के पाठक को पकड़ लेता है। यही बात भक्ति काल को न सिर्फ़ लोकप्रिय बनाती है बल्कि उसमें अन्यान्य व्याख्याओं की संभावनाओं के साथ ही इतने अलग एवं अराजक दृष्टिकोण तक उसके भीतर आ जाते हैं कि यह भी सोचना ही पड़ता है की कविता को कैसे ना पढ़ा जाए।

चरणदास लिखते हैं कि

''प्रेम बराबर योग ना प्रेम बराबर ज्ञान
प्रेम भक्ति बिन साधुवा सब ही थोथा ध्यान
प्रेम छुड़ावे जगत कूं प्रेम मिलावे राम
प्रेम करै गति और ही लै पहुँचे हरिधाम।''

इसीलिए भक्ति काल के संदर्भ में प्रासंगिकता का सवाल और विरासत की ग्राह्यता हमेशा महत्त्वपूर्ण बने रहते हैं। नामवर सिंह जी 'प्रासंगिकता का प्रमाद' नाम लेख में लिखते हैं ''अतीत के हर बड़े लेखक को किसी ना किसी तरह समकालीन बना लेने की कोशिश हो रही है'' और आगे भी कहते हैं कि ''उन्हें प्रासंगिक होना ही पड़ेगा और विडंबना तो यह है कि जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं उन दोनों पक्षों के समर्थन में प्रस्तुत होने के लिए भी वे अभिशप्त होंगे। परंपरा को हथिया लेने की कोशिश में आश्चर्य नहीं कि अनुकूल व्याख्या द्वारा प्रासंगिक बनाने का सारा प्रयास ही संदिग्ध हो उठे! आज परंपरा की प्रगतिशील धारा के लिए संघर्ष करने वालों के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती यही है।''[2]

नामवर जी जब इस बात को कह रहे हैं तो ऐसा लगता है कि उनका इशारा कवियों/ लेखकों को पूर्व निर्धारित खांचों में अंटाकर उनकी विशेषताएं सीमित कर साहित्य का दायरा बांध देने की ओर है। क्योंकि कवि का अपना व्यक्तित्व और

असि. प्रोफेसर, हिन्दी, एम. एम. एच. कॉलेज, ग़ाज़ियाबाद

कवि के समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न अंतर्विरोधों को हम ढक या नकार कर आगे बढ़ जाते हैं। और सही मायनों में कवि की बजाय अपने विचार या आवश्यकता के लिए उदाहरणों की संख्या बढ़ाने लगते हैं। यह किसी विचार विशेष की परंपरा में सभी बड़े कवियों को हथिया लेने की कोशिश की तरह है— विचार चाहे प्रगतिशील हो या रूढ़िवादी। भक्तिकालीन कवि इसकी जद में सर्वाधिक हैं। इस प्रकार कोई प्राचीन कृति हमारे आज के सभी प्रश्नों का सही उत्तर देकर अथवा देने के कारण प्रासंगिक नहीं होती बल्कि एक सर्वथा भिन्न परिप्रेक्ष्य से हमारी आज की नियति को आलोकित करने के कारण और हमारी आत्म तुष्टि को तोड़ने के कारण प्रासंगिक होती है। इसीलिए भिन्न विचारधारा के ढांचे में निर्मित होने के कारण वह जीवंत लगती है और उसकी जीवंतता उसकी विचारधारा की सीमाएं भी स्पष्ट कर देती है। यह जीवंतता उसके कालजयी रूप विन्यास की संपूर्णता में होती है जो विचारधारा- वलयित अंतर्वस्तु द्वारा निर्मित होते हुए भी अंतर्वस्तु से अनिवार्यत: आबद्ध नहीं होती। युग—युग में पुनर्नवा की यह क्षमता ही किसी कृति को कालजई भी बनाती है और प्रासंगिक भी।[3]

राजनैतिक-सामाजिक उथल-पुथल के साथ सांस्कृतिक चुनौतियों के बीच धार्मिक या कहें कि सांप्रदायिक घेरेबंदी के भीतर मुक्ति का संघर्ष है भक्ति कालीन कविता। लौकिक मुक्ति के साथ अलौकिक मुक्ति का प्रत्याख्यान। इसमें प्रेम औजार और भक्ति निर्मिति है जिससे लोक-कल्याण होना है। नित्यानंद तिवारी जी लिखते हैं कि ''यह जो भक्ति काव्य का प्रेम है वह आध्यात्मिक आयाम में एक ओर जहां गोपियों का समर्पण है, उसकी ओर ले जाता है तो दूसरी और सामाजिक संदर्भ में विद्रोह की ओर। एक ओर धर्म के ढांचे को तोड़ता है तो दूसरी ओर समाज के ढांचे को। एक ओर नैतिकता को अपर्याप्त बताता है तो दूसरी और नैतिकता में संभावना दिखा देता है। यह विरुद्ध स्थितियां हमें भक्ति काव्य में बार-बार दिखती हैं।''[4] एक मूल्य की तरह भक्ति इस काल में दिखती है जोकि है तो व्यक्तिगत लेकिन उसका प्रयोग सामाजिक मुक्ति के स्तर तक हो रहा है। यदि बहुत गौर से देखा जाए तो लगभग यही काम गांधी अहिंसा के साथ करते हैं। एक वैयक्तिक मूल्य को प्रयोग के स्तर पर सामाजिक मुक्ति की युक्ति के बतौर स्थापना। कौन यह कह सकता है कि गांधी को भक्त कवियों की जानकारी न रही होगी या वे अपने समय के जवाब पहले के समय के भीतर से नहीं खंगाल रहे होंगे। तो यह बात सही है कि जूझना पड़ता है सही निष्कर्ष के लिए जो शायद गांधी ने निकाला।

यूं देखा जाए तो सभी भक्त कवि उपासना के साथ सभी को मुक्ति के लिए ले चलने की बात करते हैं। उनके आराध्य के सम्मुख कोई भेदभाव नहीं- मुक्ति/ मोक्ष/ स्वतंत्रता की सबके लिए सुलभता उनकी दृष्टि में है। इसी बात को मुक्तिबोध आगे कहते हैं कि 'मुक्ति कभी अकेले में नहीं मिलती/ यदि वह है भी तो सबके साथ है।' और यही बात है जिससे एक आंदोलन का सूत्रपात होता है, चाहे वह भक्ति का हो या स्वतंत्रता का। यही वह दृष्टि सूत्र है जो भक्ति काल को हमारे लिए प्रासंगिक भी बनाता चलता है। और यह स्वतंत्रता गांधी के लिए राजनीतिक हो सकती है लेकिन संघर्ष अनवरत है और नाना किस्म की सामाजिक बेड़ियां आज भी मौजूद हैं।

यह संघर्ष न तो निरा वायवीय है और ना ही किसी मात्र पारलौकिक स्थिति के लिए है। सबके लिए एक आदर्श जीवन को सुलभ करा सकने की व्यवस्था वाला राज्य सबकी दृष्टि में है। चाहे वह अलख निरंजन का देश, बेगमपुरा, बैकुंठ या रामराज्य हो, लेकिन एक ऐसा स्वप्न, एक ऐसा आदर्श राज्य उनकी कल्पना में है जहां समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व सुनिश्चित है। वे लोक को निराशा में एक स्वप्न देते हैं और स्वप्न के साथ ही समकालीन सत्ता का एक क्रिटीक प्रस्तुत करते हैं कि जो चाहिए वह वहां है नहीं और सत्ता की कमियां क्या

यह बात आम है कि कविता का तेवर संघर्ष का है और पक्षधरता आमजन की। जहां कविता यह बात चूक गई कविता ने अपनी जीवनी शक्ति ही खो दी। संघर्ष शाश्वत है और कदम-दर-कदम जारी है, तो संघर्षशील कभी अपने समानधर्माओं से प्रेरणा भी लेता है और अभिव्यक्ति के तरीके भी। इसीलिए स्वतंत्रता संग्राम की एक पूरी पीढ़ी भक्ति आंदोलन से प्रभावित है। इसीलिए गांधी के भजन भी गांधी के राजनीतिक प्रयोगों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

भक्ति काल में सहजता-स्वाभाविक, लोक से जुड़ाव एवं आमजन की बात जन भाषा में कहना प्रमुख है। क्योंकि रास्ता आमजन को दिखाना है। यही गुण भक्ति काल को सर्वाधिक जीवनी शक्ति देता है। यही संघर्ष में सब को साथ ले आने का तरीका है।

करता हैं? और इस स्वप्न के सहारे ही जनता को एक उद्देश्य भी देते हैं।

बेगमपुरा सहर को नाउं। दुख अंदोहु नहीं तिहि ठाउं॥

ना तसवीस खिराजु न मालु। खउफु न खता न तरसु जवालु॥

अब मोहि खूब वतन गह पाई। उहां खैरि सदा मेरे भाई॥

इस स्वप्न की पूर्ति के लिए भक्त कवियों के यहां विद्रोह है। सब कुछ को छोड़-तोड़ कर सबको शामिल करा लेने का सामाजिक विद्रोह है, तो पंडितों मुल्लों के रास्ते को प्रपंच बताने वाला धार्मिक विद्रोह भी है। कुछ तो सत्ता के बरअक्स एक समानांतर सत्ता रच लेते हैं। कबीर और रैदास के यहां सब कुछ के प्रति एक कड़ा अवज्ञा-भाव है, यह उनकी अपनी एक विशिष्ट मन: स्थिति है जिसमें जो संत नहीं है उसकी कोई औकात नहीं। तुलसी तो सत्ता की आलोचना में इतना अंदर है कि समानांतर दरबार सजा देते हैं—

हम चाकर रघुवीर के, पटो लिख्यो दरबार।

तुलसी अब का होएंगे, नर के मनसबदार॥

यह और बात है की इस बड़ी समानांतर सत्ता का रंग भी पुरानी सामंतवादी सत्ता जैसी हो लेकिन यह तय बात है कि वहां लौकिक सत्ता से टकराने का साहस मौजूद है और केवल पुरस्कार और अकादमियों की अध्यक्षी से सध जाने वाली मेधा नहीं है वहां। संघर्ष में इसकी बेहद ज़रूरत होती है। जब एक कवि सीधे राजा से पूछ लेता है कि 'मोंहि पर हंसेसि कि कोहरहिं' तो सत्ता से आँख मिलाकर सवाल करने का साहस दिखाई देता है और यह बड़े आदर्श तक अपनी दखल के आत्मविश्वास के बाद आता है।

इसमें यह भी एक महत्त्वपूर्ण अंतर्विरोध है कि इसी भक्ति काल में भक्ति प्रतिष्ठानों की भी सत्ता के साथ सांठगांठ की प्रवृत्ति पाई जाती है। कभी मठ, गद्दी तो कभी भक्तों पर कब्जे की राजनीति के लिए तो कभी मठ के लिए संसाधन जुटाने के लिए तो कभी कर से छूट पाने के लिए। लेकिन निश्चित ही इससे बचे जाने की ज़रूरत है। इसका जिक्र मोहसिन फानी की अपनी किताब 'दबिस्तां ए महाजिब' में और कई ऐसे प्रकरणों में देखने को मिल जाता है।[5]

सर्वोच्च दरबार की उपलब्धि से उत्पन्न नैतिक साहस या निडरता के साथ ही प्रतिबद्धता भी है।' संतन को कहा सीकरी सो काम' कहने वाले संत की समस्या 'बिसरि गयो हरि नाम' की है। इस निडरता, निर्भयता का मुख्य कारण प्रतिबद्धता है। यह प्रतिबद्धता दरअसल अपने आराध्य पर अगाध विश्वास से उपजी है। 'मंगलम् मरणम् यत्र' वाली काशी के बारे में कबीर कहते हैं कि

'जो काशी तन तजै कबीरा राम ही कौन निहोरा'

इसी भरोसे पर तुलसी लिखते हैं

'कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।

तुलसी माथा तब नवै, धनुष बाण ल्यौ हाथ॥'

या कि जब मीरा कहती हैं कि 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोय'

या तुलसी मीरा से कहते हैं

'जाके प्रिय न राम वैदेही

तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जदपि परम सनेही'

तो अपने संघर्ष में उनकी प्रतिबद्धता हर कहीं उद्घाटित होती है। और यही प्रतिबद्धता उनसे आगे के कवियों ने भी ग्रहण की है। यह परंपरा भी है और विरासत भी। नागार्जुन का कहना कि 'प्रतिबद्ध हूं, जी हाँ शतधा प्रतिबद्ध हूं' या शमशेर का यह कहना कि 'वाम वाम वाम, दिशा समय साम्यवादी' उसी प्रतिबद्धता एवं विश्वास को दिखाता है जो भक्त कवियों ने उस समय प्रदर्शित की थी।

लेकिन इस प्रतिबद्धता के पीछे कट्टरता का भाव कहीं नहीं है। भक्ति कालीन कविता वैचारिक विशेषता की पहचान बनाए रखकर भी सामान्यवादी है। साहित्य को लोक से जोड़ने की कोशिश, विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के समन्वय की कोशिश, विभिन्न विचारों एवं दर्शनों के एकीकरण का प्रयत्न, विभिन्न पूजा पद्धतियों के समन्वय की चेष्टा, विभिन्न आराध्यों के पारस्परिक संवाद से एकीकरण का प्रयास भक्ति काव्य में लगातार देखने को मिलता है। सबसे आनंददायक यह है कि वहां एकीकरण के लिए कोई पौराणिक या पारलौकिक दबाव नहीं है या अलौकिक मारपीट नहीं है बल्कि उनके आपसी संवाद हैं। भ्रमरगीत इसका बड़ा उदाहरण है। यहां तक कि जब कबीर कहते हैं कि 'अरे इन दोउन राह न पाई' तो भी किसी को अलगाव या श्रेष्ठता में नहीं डाला गया, सब पर बराबर चोट है। शैव -शाक्त -वैष्णव, राम -कृष्ण -शिव, सवर्ण -कुवर्ण, निर्गुण-सगुण, हिंदू -मुस्लिम सबको समान भाव से देखा गया। जो प्रभु को भजेगा वही मनुष्य माना जाएगा।

हालांकि जैसा कि पहले बताया गया कि कुछ अपवाद भी हैं, कृष्णदास-रूप सनातन[6] तथा तुलसीदास-नंददास[7] के ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिनमें संप्रदाय की कट्टरता भी देखने को मिलती है लेकिन निश्चय ही वे सीख देते हैं या कि 'वैष्णो की छपरी भली नहीं साकत के गाँव' जैसी उक्तियां वस्तुत: उस

समय के ऐसे अंतर्विरोध हैं जो हमें देखने को कई जगह पर मिल जाएंगी, लेकिन हर बड़े साहित्य में, जीवंत साहित्य में ऐसे द्वंद्व और अंतर्विरोध ही उसे बड़ा और जीवंत बनाते हैं।

निश्चित ही भक्ति काल के भीतर हम विविध विचारधाराओं के प्रति सम्मान एवं संवाद की भावना देखते हैं। ऐसे न जाने कितने उदाहरण हैं जिनमें तमाम प्रतिबद्धता और सैद्धांतिक कट्टरता के बावजूद कवियों में एक दूसरे के प्रति सम्मान एवं संवाद कभी कम नहीं होता। गुरु ग्रंथ साहिब कई कवियों की रचनाओं का संकलन है तो तुलसी का संवाद भी लगातार मीरा, नंददास और रहीम से बना रहता है। रसखान मुस्लिम है पर कृष्ण भक्त तो मीरा दलित रैदास को अपना गुरु मानती हैं। भक्तमाल में भी सभी विचारधारा के भक्त कवियों का उल्लेख मिलता है। इसमें सबसे बड़ी बात यह है कि जब कबीर 'राम जपु राम जपु राम जपु भाई' कहते हैं तो फिर आप लाख कहते रहिए कि 'दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना' लोक तो अपने मतलब की चीज उससे ही समझ लेगा जो उसकी चेतना में है। तुलसी कबीर को निशाने पर कई जगह लेते हैं लेकिन यह भी कहते हैं कि

'सगुनहिं अगुनहिं नहीं कछु भेदा'

या कि

अगुन अरूप अलख अज कोई, भगति प्रेम वस सगुन सो होई।

जो गुण रहित सगुन सोइ कैसे, जल हिम उपल अलग नहिं जैसे॥

इसी प्रकार रहीम तुलसी की मानस के लिए कहते हैं 'हिंदूवान कौं वेद सम, तुरकहीं प्रकट कुराना।'

जाहिर है उस समय सगुण निर्गुण और उनके भीतर भी तमाम तरह की पूजा पद्धतियों के संप्रदाय और स्कूल हैं, उनके सभी के मानने वाले एक दूसरे के प्रति ज़्यादा संवेदनात्मक लगाव एवं सम्मान की भावना रखते हैं। डॉक्टर पूनम कुमारी अपने एक लेख में लिखती हैं कि '19 वीं सदी के मध्य तक निर्गुण सगुण का भेद नहीं था। अलगाव से प्रबल उनकी एकता की भावना थी।'[8]

इन भक्त कवियों में अपने लक्ष्य के प्रति अद्‌भुत एक निष्ठ प्रयास तो दिखते ही हैं, परंतु साथ ही उन प्रयासों के प्रति सघन आत्मालोचन का भी भाव दिखता है। आमतौर पर विनय के पदों में आत्मालोचन आत्मभर्त्सना तक उतर आया है। आत्मालोचन और लक्ष्य पर पैनी सीधी नजर और उससे भटकाव की संभावनाओं पर तीखी दृष्टि हमें भक्ति काल के बाद आधुनिक कवियों के यहां दिखाई पड़ती है। जब तुलसी कहते हैं

'मो सम कौन कुटिल खल कामी'

या सूर कहते हैं 'हौं तो सब पतितन कौ टीको'

तो ऐसे आधुनिक काल में पढ़ते हुए हमें अपने समय में निराला याद आते हैं जो कहते हैं 'धन्ये मैं पिता निरर्थक था' या हो 'इसी कर्म पर वज्रपात' और इन्हीं कवियों से प्रेरणा लेते हुए मुक्तिबोध इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'अब तक क्या किया / जीवन क्या जिया'। तब हमें भक्त कवियों से आधुनिक कवियों तक विरासत एवं परंपरा एक सीधी रेखा में सत्ता से टकराती हुई चलती दिखाई देती है।

साहित्य को लोक से जोड़ने की कोशिश, विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के समन्वय की कोशिश, विभिन्न विचारों एवं दर्शनों के एकीकरण का प्रयत्न, विभिन्न पूजा पद्धतियों के समन्वय की चेष्टा, विभिन्न आराध्यों के पारस्परिक संवाद से एकीकरण का प्रयास भक्ति काव्य में लगातार देखने को मिलता है। सबसे आनंददायक यह है कि वहां एकीकरण के लिए कोई पौराणिक या पारलौकिक दबाव नहीं है या अलौकिक मारपीट नहीं है बल्कि उनके आपसी संवाद हैं। भ्रमरगीत इसका बड़ा उदाहरण है। यहां तक कि जब कबीर कहते हैं कि 'अरे इन दोउन राह न पाई' तो भी किसी को अलगाव या श्रेष्ठता में नहीं डाला गया, सब पर बराबर चोट है। शैव –शाक्त –वैष्णव, राम –कृष्ण –शिव, सवर्ण –कुवर्ण, निर्गुण–सगुण, हिंदू –मुस्लिम सबको समान भाव से देखा गया। जो प्रभु को भजेगा वही मनुष्य माना जाएगा।

यह बात आम है कि कविता का तेवर संघर्ष का है और पक्षधरता आमजन की। जहां कविता यह बात चूक गई कविता ने अपनी जीवनी शक्ति ही खो दी। संघर्ष शाश्वत है और कदम –दर–कदम जारी है, तो संघर्षशील कभी अपने समानधर्माओं से प्रेरणा भी लेता है और अभिव्यक्ति के तरीके भी। इसीलिए स्वतंत्रता संग्राम की एक पूरी पीढ़ी भक्ति आंदोलन से प्रभावित है। इसीलिए गांधी के भजन भी गांधी के राजनीतिक प्रयोगों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

भक्ति काल में सहजता–स्वाभाविक, लोक से जुड़ाव एवं आमजन की बात जन भाषा में कहना प्रमुख है। क्योंकि रास्ता आमजन को दिखाना है। यही गुण भक्ति काल को सर्वाधिक

जीवनी शक्ति देता है। यही संघर्ष में सब को साथ ले आने का तरीका है। उनकी काव्यात्मकता सर्वाधिक वहीं है जहां लोक संपृक्ति एवं यथार्थ चित्रण के स्वर हैं। जहां उलटबांसियां, कूटपद या आरतियां गाई गई हैं वहां काव्यात्मकता भी गायब हो गई है।

यदि हम एक संघर्षशील /प्रगतिशील समाज के तौर पर भक्ति काल का पाठ करें तो हमें यह भी मानना होगा कि भक्ति काल के भीतर एक कमी बहुत बड़ी थी जिसकी ओर से सावधान रहना चाहिए और वह है दार्शनिकों चिंतकों के मुकाबले धर्म शास्त्रियों को ज़्यादा महत्त्व दिया जाना। यही वह कारण रहा जिसने समाज के अंतर्विरोध को ढकने के लिए अवसर दिया। लतीफ मलिक अपनी किताब फला इ दुल फुआद में शेख निजामुद्दीन और शेख अहमद सरहिंदी का मामला उठाते हैं, और शाह वालीउल्लाह के कथन को रेखांकित करते हैं जिसमें धर्मशास्त्रियों को ज़्यादा महत्त्व देने की बात कही गई। इरफान हबीब जैसे इतिहासकार यह मानते हैं कि अबुल फजल द्वारा प्रस्तावित पाठ्यक्रम जिसमें कि नये विषय शामिल थे, धर्मशास्त्रियों के विरोध के कारण लागू नहीं किए गए और अकबर जैसा प्रभावशाली बादशाह भी धर्म शास्त्रियों के दबाव को न सिर्फ़ महसूस करता रहा बल्कि उसके अनुसार फैसले भी लेता रहा। इसी कारण भक्ति काल की विद्रोही एवं संघर्षशील चेतना को दबाया जा सका।

अपने संघर्ष एवं विद्रोह में भक्ति काल की सबसे बड़ी खामी यह है कि समानांतर विकल्प की तलाश का कोई गंभीर प्रयास वहां नहीं है। हमें भक्ति काल से यह सीखना ही होगा कि तोड़फोड़ के बाद जिसकी निर्मिति करनी है, उसे भी हमें ही प्रस्तावित करते चलना होगा। अन्यथा कुछ सुधार के साथ सत्ता आप के विद्रोह को भी पचा जाएगी और संघर्ष सुधारवादी होकर रह जाएंगे।

पिछले कुछ वर्षों में इस देश में कई तरीकों के जन आंदोलन हुए हैं। उनमें भक्त कवियों की याद भी आती रही और शक्ति भी मिलती रही। दलित आंदोलन ने कबीर और रैदास को केंद्र में ला दिया। स्त्री अस्मिता ने मीरांबाई के पुनर्पाठ की आवश्यकता को रेखांकित किया। सांप्रदायिकता ने कबीर को नए सिरे से परखने की दृष्टि दी। इधर देश के सामने एक नए किस्म का खतरा आया है, जिसमें भारत की वैविध्यपरक पहचान को प्रश्नांकित करते हुए उसे बहुरंगी से भगवा बनाने का प्रयत्न हो रहा है और भक्ति काल फिर याद आ रहा है। ऐसे में अनिवार्य है कि हमारे कवियों के दुरुपयोग की छूट कतिपय उत्पाती साखामृगों को न दी जाए। यह भक्त कवियों की कविता के सही स्वरूप को बचाने के लिए भी ज़रूरी है कि उनकी मानवोन्मुख सही व्याख्याएं आलोचक प्रस्तुत करें। अन्यथा मैनेजर पांडे जी के शब्दों में कहूं तो ''कबीर पंथ में कबीर के विचारों की दुर्गति के इतिहास से साबित होता है कि कोई क्रांतिकारी विचारधारा विरोधियों की आलोचनाओं से नहीं मरती; वह इतिहास-प्रक्रिया से बेखबर अनुयायियों की अंधश्रद्धा, कट्टरवादिता और महत्वाकांक्षा से मरती है।''[9]

संदर्भ ग्रंथ सूची:

1. नित्यानंद तिवारी, मध्यकालीन साहित्य : पुनरावलोकन, साहित्य भंडार, पेज 14।
2. नामवर सिंह, प्रासंगिकता का प्रमाद, संचयिता संपादक नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, पेज 72।
3. वही, पेज 73।
4. नित्यानंद तिवारी, मध्यकालीन साहित्य : पुनरावलोकन, साहित्य भंडार, पेज 33।
5. डॉ किरण शर्मा, वैष्णव संप्रदाय का सत्ता संघर्ष, भक्ति काल का आधुनिक संदर्भ, संपादक संतोष कुमार चतुर्वेदी, साहित्य भंडार, पेज 190।
6. वही।
7. वही।
8. पूनम कुमारी, भक्ति साहित्य; पुनर्विचार के नए आयाम, आलोचना सहस्राब्दी अंक 45, पेज 74।
9. मैनेजर पांडे, संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट, पेज 33।

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

आधुनिकतावादी संत्रास के व्याख्याकार : विजयदेव नारायण साही

मृत्यंजय*

कंचनलता साही ने साही की किताब 'जायसी' की भूमिका लिखते हुए कहा था, ''जायसी का महत्त्व जितना जायसी पर नई रोशनी डालने के कारण होगा, शायद उतना ही जायसी के बहाने साही पर नई रोशनी डालने के कारण भी हो।''[1] यह बात सच है क्योंकि छठवाँ दशक की तमाम सारी विचारोत्तेजक बहसों के बाद साही जायसी तक पहुँचते हैं, उनको विकसित–व्याख्यायित करते हैं। नई कविता के दौर की अपनी तमाम बहसों से प्राप्त ऊर्जा का साही यहाँ निवेश करते हैं और इस क्रम में जायसी की पुनर्व्याख्या करते हैं।

अपनी ख़ास शैली में साही, जायसी के बारे में 'दहाड़ती हुई चुप्पी' का जिक्र करते हैं। अर्थात रामचंद्र शुक्ल से पूर्व के साहित्य–जगत में कवि के नाम पर जायसी को भुला दिए जाने की चर्चा करते हैं। ऐसा क्यों हुआ ? जवाब देते हुए साही कृति 'पद्मावत' पर लदे विचारधारा के बोझ, सूफीवाद की चर्चा करते हैं। उनके मुताबिक रचना के बाहर की विचारधारा रचना को नुकसान ही पहुँचाती है। उन्होंने लिखा, ''...तसव्वुफ से अलग हटकर जायसी पर विचार करना असंभव हो गया, इस गलतफहमी के कारण न सिर्फ़ जायसी का वास्तविक कवि व्यक्तित्व, उनकी रचनात्मक प्रतिभा और एक हद तक उनकी अद्वितीय मौलिकता पर पर्दा पड़ गया है, बल्कि वे दोहरे अन्याय और उपेक्षा के शिकार भी हुए हैं।''[2] बजाय इसके रचना के भीतर से, उसकी बनावट–बुनावट से कविता के मर्म को पकड़ा जा सकता है। उपरोक्त पुस्तक इसी अवधारणा की उपज है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' के ढाँचे से मदद लेते हुए वे पहले जायसी के व्यक्तित्व को खोलते हैं और उनपर से सूफी फकीर आदि के लबादे उतार देते हैं। बचकर क्या निकलता है, ''...एक सामान्य, किंतु भावप्रवण मनुष्य, दिल मिलाने वाले दोस्त और अत्यंत प्रतिभाशाली, कल्पनाशील और बौद्धिक कवि...''[3] अगर द्विवेदी जी के 'कबीर' से इस 'जायसी' की तुलना करें तो दोनों के व्यक्तित्व वर्णन में एक बड़ा अंतर दिखाई देगा। कबीर मध्यकाल में ही दिखाई देते हैं, जबकि जायसी की विशेषताएँ देख ऐसा लगता है कि साही के इर्द–गिर्द का परिमल का कोई कवि हो!

अब हम साही द्वारा किए गए नागमती वियोग वर्णन के विश्लेषण पर चर्चा करेंगे। सभी जानते हैं कि आचार्य शुक्ल ने नागमती के विरह वर्णन को पद्मावत के केंद्रीय मार्मिक स्थल के रूप में पहचाना था। शुक्ल जी ने इस विरह की विशिष्टता को काफ़ी महत्त्व दिया। उन्होंने बताया कि नागमती के विरह की खासियत यह है कि वह अपना रानीपना भूल जाती है, या यूँ कहें कि जायसी ख़ुद यह भूल जाते हैं कि नागमती एक रानी है। वे नागमती को सामान्य गृहिणी की तरह ही देखने लगते हैं और उसकी पीड़ा रानी की पीड़ा न रह कर सामान्य स्त्री की पीड़ा हो जाती है। 'हौं बिन नाह, मंदिर को छावा' के द्वारा शुक्ल जी ने इस बदलाव को बखूबी परखा है। उन्होंने लिखा था, ''उन्होंने सामान्य हृदय–तत्त्व की सृष्टि–व्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशु–पक्षी सबको एक जीवन सूत्र में बद्ध देखा है... नागमती की वियोग दशा का विस्तार केवल मनुष्य जाति तक ही नहीं, पशु–पक्षियों और पेड़–पौधों तक दिखाई पड़ता था... नागमती विरह दशा में अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है और अपने को साधारण स्त्री के रूप में देखती है।''[4]

शुक्ल जी से सहमत होते हुए भी साही इस बारे में क्या सोचते हैं, यह देखना यहाँ ज़रूरी है। साही ने लिखा, ''यह नागमती का विरह वर्णन ही था, जिसके कारण शुक्ल जी ने जायसी को गुमनामी से उठाकर हिंदी की त्रिवेणी में बिठा दिया। मैं बहुत विनम्रतापूर्वक शुक्ल जी के इस मूल्यांकन में अपनी आवाज मिलाना चाहता हूँ। परंतु नागमती का विरह वर्णन भावों का तीव्र और संगीतात्मक संप्रेषण मात्र ही नहीं है। वह हमारे आस्वादन में कुछ और अनुभूतियाँ भी जोड़ता है। पूरा विरह वर्णन, बारहमासे की शक्ल में, नागमती की वाणी के द्वारा रूप ग्रहण करता है। नागमती का पार्थिव शरीर और महल की सखियाँ शुरू की कुछ पंक्तियों में झीनी सी दिखलाई पड़ती हैं। अचानक कल्पना एक झटके से मुक्त हो जाती है और हमारा साक्षात्कार आवाज, सिर्फ़ आवाज से होने लगता है। धीरे–धीरे झीनी पार्थिवता भी केंचुल की तरह छूट जाती है। सारी पार्थिवता

अम्बेडकर विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
मोबाइल : 9654994142

तिरोहित होने लगती है। सखियाँ पिघल कर तिरोहित हो जाती हैं। चित्तौड़ का किला, राजमहल सब तिरोहित हो जाता है, यहाँ तक कि नागमती का पार्थिव शरीर भी तिरोहित हो जाता है। वीरानों, जंगलों, वनखंडियों, पहाड़ों, गाँवों, खेतों में टीसती हुई एक साफ, लेकिन अशरीरी आवाज शेष रह जाती है। यह आवाज पूरे देश के, गुजरते हुए समय के मर्म में निरंतर तैरती रहती है। देश और काल, दोनों अनावश्यक आवरण की तरह टूट कर गिर जाते हैं- मर्म, केवल मर्म ही रह जाता है। ...इस आवाज में एक पारदर्शी निर्वैयक्तिकता है जो नागमती को भी पीछे छोड़ जाती है।''[5]

निराला को याद करते हुए, जिन्होंने अपने 'तुलसीदास' के बारे में लिखा- 'देश काल के सर से बिंधकर, वह जागा कवि अशेष छविधर', साही की इस व्याख्या के निहितार्थों को और नजदीक से देखना चाहिए। साही शुरू में शुक्ल जी से सहमत होने की बात कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे नागमती के साधारण गृहिणी बन जाने और बड़ी पीड़ा के प्रतिनिधि चरित्र होने को स्वीकारते हैं। पर वे यही नहीं मानते। नागमती के विरह को वे धीरे-धीरे यथार्थ से काटना शुरू करते हैं। शुक्ल जी जहाँ जायसी के काव्य लोक का, खासकर नागमती वियोग वर्णन के संदर्भ में आधार तलाशते हैं, वहीं दूसरी तरफ साही उससे उसे मुक्त करने की कोशिश में लगे रहते हैं। साही पहले इस विरह को अपने आस-पास की दुनिया से अलग करते हैं, फिर देश-काल, परिस्थिति से और अंतत : ख़ुद नागमती से भी इसे अलग कर देते हैं। गनीमत यह है कि वे इस क्रम को आगे नहीं बढ़ाते अन्यथा यह विरह जायसी से भी अलग हो जाता। तब क्या बचा ? शुद्ध विरह या शुद्ध दुख या शुद्ध टीस। मर्म बच जाता है। तब प्रकट होती है निर्वैयक्तिकता और वह भी पारदर्शी। तब जाकर यह शुद्ध दुख इतिहास-लोक की आवाज बन पाने की हैसियत अर्जित कर पाता है। हैरानी की बात यह है कि तिसपर भी साही शुक्ल जी से सहमत होने का दावा किए जाते हैं।

तो क्या काव्य के मर्म तक पहुँचने के लिए हमें उसके आस-पास से सब कुछ, सारी हकीकी दुनिया को हटा देना चाहिए ? नई कविता के केंद्र में चल रही बहसों में व्यक्ति के स्वातंत्र्य का सवाल प्रमुख था। प्रामाणिक अनुभव का जोर था और अज्ञेय के सृजन के 'क्षण' की थीसिस को आगे बढ़ाया जा रहा था। पर यहाँ तो साही नितांत वर्तमानता को भी कृति से दूर हटा कर देखने की वकालत करते हैं। समस्या यह है कि इस निर्वैयक्तिक मर्म को पाठक कैसे अनुभूत करे ? 'शुद्ध कविता' के आस-पास पहुँचे इस मर्म को पाने के लिए पाठक अपने देश-काल से ही प्रयत्न कर सकता है। तब इस रचना या आलोचना प्रक्रिया में वस्तु का क्या स्थान है ? साही इस देशकाल युक्त विरह को देशकाल मुक्त बनाकर ही देशकाल में व्यापने वाला बना पाते हैं। इस पूरे उपक्रम की ज़रूरत क्या है ?

इसी विषय पर विचार करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं कि, ''जो फैंटेसी अनुभव की सारी व्यक्तिगत पीड़ा से पृथक होकर अर्थात उससे तटस्थ होकर अनुभव के भीतर की ही संवेदनाओं द्वारा उत्सर्जित और प्रक्षेपित होगी, वह एक अर्थ में वैयक्तिक होते हुए भी दूसरे अर्थ में नितांत निर्वैयक्तिक होगी।''[6] मुक्तिबोध इसे सामान्यीकरण और प्रतिनिधिकता से जोड़ते हैं जबकि अज्ञेय और साही इसे व्यक्ति की मूल स्वतंत्रता से। दूसरे किसी भी काव्यानुभव को उसके कसकते दुखते मूलों से अलग कर देने के बाद ही मुक्तिबोध के अनुसार, फैंटेसी तैयार होती है, जहाँ सामान्यीकरण और प्रातिनिधिकता की आवश्यकता होती है। पर यह प्रक्रिया यहीं नहीं रुकती। कला के तीसरे क्षण के द्वंद्व इसे अमूर्त नहीं रहने देते। रचना-प्रक्रिया के भीतर की इस निर्वैयक्तिकता से अलग साही रचना को उसके सामाजिक परिवेश से काटकर ही निर्वैयक्तिकता के ऊँचे आसन पर बैठा पाते हैं।

प्रसंगत: साही जायसी के नागमती वियोग वर्णन को इसी कला दृष्टि के भीतर खींच ले आते हैं। इस तरह जायसी के काव्य का 'मर्म' आचार्य शुक्ल के 'मार्मिक' से अलग और विरोधी की भूमिका ले लेता है। 'मार्मिक' में निबद्ध देश काल, 'मर्म' बनते बनते गायब हो जाता है। शायद यही वजह है कि साही जायसी को आधुनिक कवि मानते हैं। तर्क यह कि वे आचार्य शुक्ल द्वारा खोजे जाने के बाद ही वे कवि हुए। साही के ही शब्दों में, ''मैंने आरम्भ में कहा था कि जायसी ने लिखा चाहे सोलहवीं शताब्दी में हो, लेकिन उन्हें वस्तुत : आविष्कृत इस बीसवीं शताब्दी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया। इस अर्थ में वे बीसवीं शताब्दी के ही कवि हैं। लेकिन उनकी सृजनशीलता एक गहरे अर्थ में आधुनिक है।''[7]

यह आधुनिकता क्या है ? साही मध्यकालीन चौखटे से बाहर करके जायसी के कवि की पहचान करना चाहते हैं। वे बार-बार, जायसी को अन्य भक्त कवियों से अलगाते हुए जोर देकर कहते हैं कि जायसी कवि हैं, और कुछ नहीं। सूफीवाद का चढ़ा हुआ मुलम्मा उतारते हुए साही जायसी की इस खोज को आगे बढ़ाते हैं। वे कहते हैं कि जायसी का प्रस्थान बिंदु मनुष्य है। न कोई ईश्वर और न ही आध्यात्म, ''उनकी चिंता का मुख्य ध्येय मनुष्य है— मनुष्य, जैसा कि वह सामान्य ज़िंदगी में उठता-बैठता है, सीखता है, प्रेम करता है, गृहस्थी चलाता है, युद्ध में वीरता और कायरता दिखाता है, राज्य स्थापित करता

है, छल-कपट, बेईमानी और कमीनापन करता है, संप्रदाय स्थापित करता है, बटोर करने के लिए नारे लगाता है— और इस सबके बाद अपनी अपर्याप्तता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो जाता है।''[8] साही के लेखे इसी मनुष्य का चित्रण जायसी को आधुनिक बनाता है। यही उनकी बौद्धिक सघनता है, विचारधारा मुक्तता है।

यह थोड़ा आश्चर्यजनक लगता है कि इस पुस्तक में सूरदास का जिक्र सिरे से नहीं है जबकि कई-कई बार कबीर और तुलसी, जायसी की इस आधुनिकता के रंग को और गाढ़ा करने के लिए मौजूद हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि ऊपर जायसी को आधुनिक बनाने के जितने पैमाने दिए गए हैं वे सूर पर भी लागू होते हों! त्रासदी की बात छोड़ दें तो मनुष्य ही सूर की कविता के केंद्र में है, और गोपियों के विरह वर्णन की त्रासदी भी कोई कम तो नहीं। पर सूर के बारे में हम जानते हैं कि वे गोचारण काव्य के जमाने के हैं। तब क्या साही के आधुनिक की परिभाषा या लक्षण को और नजदीक से देखने की ज़रूरत है? प्रसंगत : ऊपर दी गई परिभाषा में आया मनुष्य 'लघुमानव' के काफ़ी नजदीक दिखता है जिसके बारे में विस्तार से चिन्हित करते हुए मुक्तिबोध ने आजादी के बाद के मध्यवर्ग के भीतर के द्वंद्वों और दबावों को दिखाया था।

'नई कविता और आधुनिक भावबोध' नाम का मुक्तिबोध का निबंध इस आधुनिक की विस्तार से व्याख्या करता है। साही के 'आधुनिक' की पहचान हम वहाँ से करने की कोशिश कर सकते हैं। मुक्तिबोध ने लिखा, ''आज सुशिक्षित मध्यवर्ग के लिए भारतीय परिस्थिति अनुकूल नहीं है।... पैसे की कीमत बढ़ गई है, आदमी की कीमत गिर गई है।... पश्चिमी जगत में प्रचलित सभ्यता समीक्षा... कहा गया कि मानव स्वभावत: क्षुद्र है, तुच्छ है, वह स्वभावत : स्वार्थ प्रेरित है.... मनुष्य मूलत: क्षुद्र है। अतएव दु:ख सनातन है। दु:ख से उबरने का कोई उपाय नहीं।''[9] अब यहीं जायसी के 'त्राद' से मुक्तिबोध की इस व्याख्या का मिलान करिए। साही बार-बार जायसी के ट्रेजिक विजन की बात करते हैं, जहाँ अंत में कुछ नहीं, सिर्फ़ दु:ख बच जाता है। यही वह 'मर्म' है, जिसकी चर्चा ऊपर हुई है। इस तरह साही की अपने देशकाल की मध्यवर्गीय अवस्थिति की चिंताएँ 'पद्मावत' तक फैल जाती हैं। अन्यथा साही जैसा चुस्त आलोचक मध्यकालीन मनुष्य की व्याख्या के सिलसिले में इस तरह के वाक्यांश न लिखता कि वह 'बटोर करने के लिए नारे लगाता है'। इसी क्रम में साही वैचारिक प्रतिबद्धता के बरअक्स बौद्धिक सघनता को खड़ा करते हैं। बौद्धिक सघनता को पारिभाषित करते हुए साही कहते हैं, ''अप्रस्तुत अर्थ के समाहित हो जाने से प्रसंगगत अर्थ में तीव्रता, वैचारिक तरंगाकुलता और भावों के संश्लेष का समायोजन होता है। यही है वह विस्तृत होती हुई झंकार जिसे हम बौद्धिक सघनता कह सकते हैं।''[10] अब साही द्वारा बताई गई वैचारिक प्रतिबद्धता को भी समझ लिया जाए, ''...[जब] अप्रस्तुत आध्यात्मिक अर्थ प्रधान हो जाएगा और कथा का ठोस भावात्मक संदर्भ गौण हो जाएगा। यह होगी विचारधारात्मक प्रतिबद्धता।''[11] साही अपने वक्त के बोध से जायसी को परख रहे थे, यह कहना एक बात है। दूसरी बात यह है कि साही अपने वक्त के बोध को कविता के प्रतिमान की तरह मध्यकाल पर भी लागू कर रहे थे। सत्यप्रकाश मिश्र ने लिखा, ''मुझे लगता है कि जैसे टी.एस. इलियट, शेक्सपियर और दांते को देखता है और आलोचना को आलोचनात्मक क्षमता उत्पन्न करने के स्तर तक पहुँचता है वैसे ही साही तुलसी, कबीर और खुसरो आदि से जायसी की तुलना करके अपने प्रतिमानों का प्रमाण जायसी को सिद्ध करते हैं।''[12]

यही काम मुक्तिबोध भी कर रहे थे। यह संयोग से कुछ अधिक ही है कि नई कविता की दोनों धाराओं, मार्क्सवाद और परिमल के सशक्त दो आलोचक अपने-अपने कैनन बनाने फिर भक्तिकाल की ओर पहुँचे। मुक्तिबोध ने समूचे भक्तिकाल पर लिखा और साही ने जायसी पर, पर साही के मान समूचे भक्तिकाल पर लागू नहीं किए जा सकते। दूसरे नई कविता के प्रतिमानों से जायसी में अस्मिता आदि खोज निकालते हुए साही ख़ुद का ही प्रत्याख्यान करते हैं। वर्तमान चेतना के पक्ष में लिखते हुए उन्होंने अतीतग्रस्तों पर आक्षेप करते हुए लिखा, ''अतीत को इच्छानुसार बदलकर सामयिक स्थिति में प्रयुक्त कर लेने का लोभ छूटे नहीं छूटता। कौन है जो आज तुलसीदास की भावभूमि पर काव्य लिखना चाहेगा? लेकिन तुलसीदास की परंपरा में खड़े होने का दावा सबका है।''[13] अगर यह 'कौन' साही हैं तो क्या इस उद्धरण में तुलसी की जगह जायसी रखे जा सकते हैं?

साही ने अपने समय के समसामयिक विचारक को गुनते हुए लिखा, ''समसामयिक विचारक एवं कलाकार अंधकार से घिरा हुआ होता है, लेकिन साहस से परिपूर्ण- अनिश्चयशीलता में विवश होता है, किंतु प्रयास में अपराजित, उत्तरहीन प्रश्नों से ग्रस्त होता है, पर झूठे उत्तरों का प्रतिरोधी, सांप्रतिक सत्य से सीमित होता है, किंतु आडंबर का विरोधी, त्रास और दुख का अस्तित्त्व स्वीकार करता है, किंतु स्वतंत्रता का सैनिक होता है। उसका विवेक उसकी आस्था है, उसका संशय उसकी ईमानदारी है, उसका साहस उसके व्यक्तित्व की पूर्णता है और उसकी लघुता उसकी सार्थकता है।''[14] स्वाधीनता से भरे हुए इस कलाकार विचारक की और क्या पहचान है? मुक्तिबोध ने बहुत जोर देकर इस कलाकार की वर्गीय स्थिति की पहचान

की थी। नेहरू युग और उसके आदर्शों के खंडित हो जाने की बेला में, अपनी सामाजिक-आर्थिक बदहाली से टूटे हुए, शीत युद्ध के चलते कम्युनिज्म को स्वाधीनता का हनन करने वाली तानाशाही मानने वाले इस निम्न मध्यवर्गीय प्रवृत्ति को वे नई कविता में जोर देकर अलगाते हैं। यह लघुमानव जनता के संगठित और विराट को महसूस नहीं कर पाता। यह आत्म और क्षण और नितांत समसामयिकता को कसौटी बनाता है। सारे अन्यायों से एक साथ लड़ने की उनकी आधारभूमि की असलियत तब खुलती है जब इस सिद्धांत को व्यवहार में बरता जाता है। उस स्तर पर सारे अन्यायों से एक साथ लड़ने का तात्पर्य है— किसी के साथ न लड़ना। अन्यायों से लड़ाई का आधार बहुसंख्य ग़रीब जनता की बजाय वैयक्तिक होने के कारण ही ऐसा होता है। साही की कबीरदास के प्रति लिखी गई बहुउद्धृत कविता में 'फटकार कर सच बोलने' की माँग की गई है। ऐसा सच, जिससे चाहे जिसे लाभ पहुँचे। यह सच किसके पक्ष में जाएगा, साही इसकी चिंता नहीं करने को कहते हैं। यह गैर जिम्मेदारी कहाँ से आती है? क्या सच कलाकार को गैर जिम्मेदारी बनाता है? दूसरे लोगों की ज़िंदगियों से दूर हटकर खोजा गया अपना सत्य कितना प्रामाणिक होगा। तीसरे अगर यह सच व्यक्तिनिष्ठ ही है तो फिर इसकी कोई परिभाषा संभव नहीं होगी, हर व्यक्ति का अपना सच होगा। यहाँ तक कि प्रगतिवादी या कम्युनिस्ट का भी। प्रसंगवश याद करना चाहिए कि साही के राजनैतिक गुरु डॉ. लोहिया ने भी भारतीय जनमानस की धार्मिकता के 'सच को सामने रखा और जनता पार्टी सांप्रदायिक राजनीति के फंदे में फंस गई। मुक्तिबोध इस लघुमानव की पड़ताल इन शब्दों में करते हैं, ''...यह तो स्पष्ट है कि 'इस आधुनिक भावबोध में उन उत्पीड़नकारी शक्तियों का बोध शामिल नहीं है जिन्हें हम शोषण कहते हैं, पूँजीवाद कहते हैं, साम्राज्यवाद कहते हैं, तथा उन संघर्षकारी शक्तियों का बोध भी शामिल नहीं है, जिन्हें हम जनता कहते हैं, शोषित वर्ग कहते हैं... संक्षेप में भारत की शिक्षित मध्यवर्गीय में जो भाव संवेदनाएं प्रगतिशील राजनैतिक अर्थ रखती हैं, उनका 'आधुनिक भावबोध में कोई स्थान नहीं। हम तो केवल 'लघु मानव हैं, साधारण जनता नहीं। साधारण जनता में विश्व-परिवर्तन की अदम्य क्रान्तिकारी शक्ति होती है। लेकिन उन नीति नियामकों के लेखे, वह भीड़ की अंधी ताकत है। वास्तविक चेतना तो व्यक्ति के अपने आभ्यंतर की समृद्धि है। तो इसलिए व्यक्तित्व की इकाई महत्त्वपूर्ण है। यह इकाई 'लघु मानव है, क्योंकि अब यह इकाई महान आदर्शों के उच्चतर स्तर की प्राप्ति के पीड़ाजनक भीषण प्रयत्नों में संलग्न नहीं है, न हो सकती है। महान आत्माओं, महान प्रतिभाशालियों, महामानवों का युग गया। ...हम जन साधारण हो जाएँ तो वामपंथी मनोवृत्तियों के शिकार होकर, भीड़ की अंधी ताकत बनते हुए अपनी इयत्ता खो देंगे। इसलिए हमको जन साधारण से लघुमानव बन जाना चाहिए।''[15]

साही के उस लेख की याद करें, जहाँ वे कम्युनिज़्म और ईसाईयत को जोड़ते हुए उनकी आलोचना इन शब्दों में करते हैं, ''यही वह भविष्य की बेदी है जिस पर वर्तमान का बलिदान किया जाता है।''[16] व्यक्ति स्वातंत्रय के आधार पर साही ईसाईयत और कम्युनिज़्म दोनों में, रेजीमेंटेशन देखते हैं। उनके मुताबिक दोनों सुदूर कलिपत भविष्य के लिए मनुष्य के स्वातंत्र्य का हनन करती हैं। मुक्तिबोध अपने उपरोक्त लेख में इस पर तंज करते हुए लिखते हैं, ''व्यक्ति स्वातंत्र्य एक पुनीत सिद्धांत है [चाहे उसमें लूट-खसोट, अनाचार, भ्रष्टाचार, स्वार्थ, चरित्रहीनता, धन का प्रभुत्व, शोषण क्यों न चलता हो। यदि समाज में बुराइयाँ हैं तो धीरे-धीरे ही दूर होंगी। लोग हैं कि जो अपने लघुत्व के कारण इस स्वातंत्र्य से डरते हैं। वे कलाकार हीन हैं जो वाहयानुरोध स्वीकार करते हैं। मनुष्य की परम चेतन अंतरआत्मा पर जोर डालने वाली, उसे गुलाम बनाने वाली, यह साम्यवादी पार्टी रेजीमेंटेशन करती है।... वे कुछ बुद्धिजीवी और वह कुछ जनता इतनी बेवकूफ है कि उनके बहकावे में आ जाती है। वह विदेशी प्रभाव भारत में लाती है, लोगों के दिमागों को गुलाम बना लेती है। पश्चिमी प्रभाव भारतीय प्रभाव है, अमरीकी नीति नियमन वस्तुत: भारतीय है। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद भारत का शत्रु है, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद और साम्राज्यवाद भारत का सगा भाई है!''[17] यहाँ मुक्तिबोध के दिमाग में नई कविता की वह पूरी धारा है जो अज्ञेय से शुरू होकर साही और अन्य परिमल आलोचकों में परवान चढ़ी। नितांत वर्तमानता का सैद्धांतिकीकरण भी इसी की कड़ी है।

प्रसंगत: फिर साही की कृति आधारित आलोचना की ओर लौटें। साही दो भुजाओं के बीच स्थित 'सामंजस्य के अपने सिद्धांत के आधार पर पद्मावत की व्याख्या करते हुए 'सिंहल द्वीप' और 'चित्तौड़गढ़' के बीच 'पद्मावती' को चटख रंगों में उभार देते हैं।[18] ऐसे ही छोर वे शमशेर की काव्यानुभूति को तलाशते हुए पकड़ते हैं। सिंहल द्वीप और चित्तौड़ का द्वंद्व शमशेर के विश्लेषण में मार्क्सवाद और अतियथार्थवाद के द्वंद्व में बदल जाता है।[19] साही मानते हैं कि कालातीत होने की मनुष्य की इच्छा एक यूटोपिया की तरफ उसे खींचती है। शमशेर के मामले में यूटोपिया भविष्य की बेदी पर वर्तमान की बलि नहीं चढ़ाती बल्कि अतीत और भविष्य, दोनों का समसामयिकीकरण कर देती है। तब ऐसे में साही के मुताबिक इस द्वंद्व में एक त्रासदी का जन्म होता है, जो काव्य का मर्म है। यह काव्य मर्म जायसी, शमशेर और मलार्मे, सबमें मौजूद है। आशुतोष कुमार ने इस

पर टिप्पणी करते हुए इस आलोचना की प्रामाणिकता पर इन शब्दों में प्रश्न उठाया है, ''कविता में निहित विश्वदृष्टि की खोज करना एक बात है। यह विश्वदृष्टि समूची कविता नहीं होती।... मुक्तिबोध की जुबान में कहें तो वह कविता में निहित 'ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान है। साही इसे 'बौद्धिक सघनता कहना चाहें तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन हर बार उसे मनुष्य की अस्तित्त्वमूलक विडंबना के रूप में ही देखना, जो आधुनिकतावादी संत्रास का ही एक दूसरा नाम है, कितनी प्रामाणिक आलोचना है?''[20] पीछे हम मुक्तिबोध द्वारा किए गए इस प्रवृत्ति के वर्गाधारों का विश्लेषण देख आए हैं। यहाँ फिर उसे दोहराने का कोई लाभ नहीं।

साही की इस दृष्टि के पीछे के तनावों को समझने की कोशिश करते हुए हम इस संदर्भ के अंत तक पहुँचने का यत्न करेंगे। पहली बात तत्कालीन परिस्थिति में निहित है। उसी समय के अन्य दो आलोचकों, मुक्तिबोध और नामवर सिंह के आलोचनाकर्म की पड़ताल करते हुए हमने देखा था कि शीत युद्ध के प्रभाव उनके कैनन निर्माण पर पड़े। अर्थात हिंदी आलोचना में रूपवादी धारा और वस्तुवादी धारा के बीच बहस बढ़ चली। ऐसा इनमें से कोई शायद ही मानता हो कि विरोधी धारा में कोई तत्त्व नहीं है। आलोचकों के सामने चुनौती थी कि विरोधी के सिद्धांतों से सीखते हुए और उसकी कमजोरियों पर प्रहार करते हुए कैसे आलोचना को विकसित करें। और निश्चय ही यह करते हुए न अपना आधार छोड़ें और न ही विरोधी विचार को छूट दें। साही भी इसी आधारभूमि पर खड़े हैं। दूसरी बात भी अवस्थिति से ही जुड़ी हुई है। भारतीयता की खोज औपनिवेशिकता से छूटने के लिए ज़रूरी थी। इस भारतीयता की खोज और आधुनिकता के रिश्ते कभी सीधे-सीधे न रहे। लोहिया, और ठीक इसी तरह साही के सामने भारतीयता की खोज का सवाल दरपेश था। लोहिया यह खोज करते हुए राम, कृष्ण और शिव तक पहुँचे। अपने तरह की आधुनिकता की खोज में ही लोहिया मिथकों की पुनर्परिभाषा तक गए और साही जायसी तक। आशुतोष कुमार ने इसे रेखांकित किया, ''सवाल यह था कि परंपरा को छेड़े बगैर, उसे प्रश्नांकित किए बगैर कोई आधुनिक हो तो कैसे हो। और अगर आधुनिक हुए बगैर न रह सके तो फिर वह अपनी भारतीयता का क्या करे, जिसे भूल जाना, छोड़ देना या नजरअंदाज़ कर जाना नामुमकिन था? औपनिवेशिक विरासत से पीछा छुड़ाने की विकलता भारतीयता को पश्चिम के निषेध के रूप में ही परिभाषित कर सकती है। आधुनिकता भी अगर पश्चिम की है तो हमें उसकी ज़रूरत नहीं। हमें एक अलग अपनी आधुनिकता खोजनी है। इतिहास की अवधारणा, प्रगति का विचार- यह सब भी पश्चिम का ही चिंतन है। पश्चिम के पास काल की एक ख़ास अवधारणा है— एकरेखीय अवधारणा है।''[21]

'मार्क्सवादी आलोचना की कम्युनिस्ट परिणतियाँ' में साही इसी बिंदु से आलोचना में आगे बढ़ते हैं। मार्क्सवादी आलोचना के प्रतिपक्ष के कैननों में यह बिंदु आगे निर्मल वर्मा के चिंतन में विकसित हुआ।

संदर्भ :

1. जायसी, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी एकेडमी, 1983 की भूमिका
2. जायसी, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी एकेडमी, पृष्ठ: 23
3. वही, पृष्ठ: 22
4. रामचंद्र शुक्ल संचयन, भूमिका एवं चयन- नामवर सिंह, साहित्य अकादेमी, द्वितीय संस्करण, 1998, पृष्ठ: 122-25
5. वही, पृष्ठ: 111
6. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, संपादक: नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, 1980, पृष्ठ: 85
7. जायसी, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी एकेडमी, 1983, पृष्ठ: 106
8. वही, पृष्ठ: 62
9. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5, संपादक: नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, 1986, पृष्ठ: 307
10. जायसी, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी एकेडमी, 1983, पृष्ठ: 70
11. वही, पृष्ठ: 70
12. आलोचक और समीक्षाएं, सत्य प्रकाश मिश्र, विभा प्रकाशन, 1993, पृष्ठ: 61
13. नितांत समसामयिकता का नैतिक दायित्व-1, छठवां दशक, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी एकेडमी, 2007, पृष्ठ: 146
14. नितांत समसामयिकता का नैतिक दायित्व-2, वही, पृष्ठ: 163
15. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5, संपादक: नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, 1986, पृष्ठ: 326
16. नितांत समसामयिकता का नैतिक दायित्व-2, छठवां दशक, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी एकेडमी, 2007, पृष्ठ: 161
17. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5, संपादक: नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, 1986, पृष्ठ: 326
18. देखिए 'पद्मावत का विश्लेषण' नामक अध्याय, जायसी, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी एकेडमी, 1983, पृष्ठ:80-112
19. देखिए 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक लेख, छठवां दशक, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी एकेडमी, 2007, पृष्ठ: 194-219
20. समकालीन कविता और मार्क्सवाद, आशुतोष कुमार, हिंदी विभाग, अ.मु.वि., 2009, पृष्ठ: 140
21. वही, पृष्ठ: 136

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

मोहन राकेश के नाटकों में आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता की अभिव्यक्ति

डॉ. पाण्डव कुमार*

आधुनिकता को सही अर्थों में परिभाषित कर पाना एक जटिल प्रक्रिया है, क्योंकि आधुनिकता की अवधारणा किसी एक तत्व पर आश्रित नहीं है। आधुनिक जीवन की प्रगतिशील अवधारणा है, एक दृष्टिकोण है, एक बोध प्रक्रिया है, एक संस्कार प्रवाह है। आधुनिकता को रूढ़ि से अनवरत विद्रोह करना पड़ता है, क्योंकि वह परम्परा का विकास है।

आधुनिकता में जो तत्व बताए जाते हैं वे कई अन्य प्रवृत्तियों में भी मौजूद हैं। जो आधुनिक के पूर्व भी मौजूद थे तथा आधुनिकता के युग के बाद भी मौजूद हैं। इसके इतने विभिन्न रूप हैं कि इसकी व्याख्या तो की जा सकती है परिभाषित नहीं। और न ही इसकी वैचारिक व्यवस्था की जा सकती है। आधुनिकता विशेषण के रूप में अलग–अलग समय में अलग–अलग गुणों (या अवगुणों) के लिए इस्तेमाल की जाती रही है। लेकिन इस शब्द का प्रयोग अधिकतर परम्परा तथा पुरातन रस्मों–रिवाज और रूढ़ियों के विरोध में ही किया जाता रहा है। लेकिन 'आधुनिकतावाद' एक आन्दोलन या प्रवृत्ति के लिए कलात्मक अभिव्यक्तियों–ललित कला, वास्तु कला, नृत्य, संगीत तथा साहित्यिक कृतियों और सिद्धान्तों के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है।

इन कठिनाइयों की पृष्ठभूमि में यह आवश्यक हो जाता है कि 'आधुनिक' (विशेषण), 'आधुनिकीकरण' (सामाजिक प्रक्रिया), 'आधुनिकता' (अवधारणा) तथा आधुनिकतावाद (प्रवृत्ति या आन्दोलनद्ध में भेद किया जाए।

आधुनिक विशेषण के रूप में परम्परा से विद्रोह तथा पुरातन के विपरीत नवीन रूझान के लिए इस्तेमाल होता है। कई बार आधुनिक का प्रयोग समकालीन के लिए भी किया जाता है। लेकिन यह सही नहीं है। समकालीनता का संबंध (वर्तमान) समय से है जबकि आधुनिकता का संबंध प्रवृत्तियों, तत्वों, मूल्यों, मानदण्डों तथा नयी सम्वेदनाओं और रूपगत प्रयोगों से है। पश्चिम के अनुकरण और नए–नए फैशनों, जीवन शैलियों तथा विचारों के सन्दर्भ में भी आधुनिकता शब्द प्रयुक्त होता रहा है। प्राय: ऐसा हुआ है कि औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण, पूँजीकरण और आधुनिकीकरण को पर्यायवाची माना गया है।

आधुनिकीकरण शब्द उन समस्त परिवर्तनों तथा प्रक्रियाओं के लिए प्रयोग किया जाता है जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत औद्योगीकरण तथा यंत्रीकरण के कारण प्रकट हुई हैं। लेकिन अन्य आर्थिक व्यवस्थाएँ जैसे कि साम्यवादी देश या कई उत्तर–उपनिवेशवादी देश (जिन्होंने मिली–जुली अर्थव्यवस्था का प्रयोग किया है) आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। इसीलिए आधुनिकीकरण में सामाजिक वर्गों की सीमाओं के मिटने तथा ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों और महानगरों की ओर प्रस्थान, सामाजिक गतिशीलता, शिक्षा का प्रसार, ज्ञान–विज्ञान का विस्तार शामिल है। आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया को नगरीकरण तथा नए अभिजात वर्ग (बुर्जुआ) के उदय के रूप में देखा जा सकता है।

आधुनिकता का संबंध आधुनिकीकरण के फलस्वरूप पुरातन तथा परम्परागत विचारों एवं मूल्यों, धार्मिक विश्वासों और रूढ़िगत रीतिरिवाजों के विरुद्ध नवीन प्राय: वैज्ञानिक आविष्कारों तथा विचारों, नए मूल्यों और रवैयों से है। आधुनिकता के व्यापक विस्तार में अन्वेषणों और आविष्कारों, समाजशास्त्र, दर्शन तथा मनोविज्ञान में नव–चिन्तन (नव–फ्रायडवाद, नव–यथार्थवाद, नव–उपनिवेशवाद) की अहम् भूमिका रही है।

ये हैं वे परिवर्तन जिन्होंने 'आधुनिकतावाद' की परवरिश की है क्योंकि यह सब परिवर्तन नव–चिन्तन और तत्व कला और साहित्य में नए प्रयोगों का कारण बने हैं। इसलिए साहित्य और कला में आधुनिकतावाद एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन बन गया। नयी सम्वेदना, अभिव्यंजना के नए रूपों तथा प्रयोगों का पर्याय बन गया। नया और 'पुनर' उपसर्ग के रूप में इस्तेमाल

द्वारा–कमल कुमार, उमेश चंद कॉलेज, कॉलेज स्ट्रीट, कोलकाता

होने लगे क्योंकि आधुनिकता के प्रभाव के अन्तर्गत साहित्य में नई-नई प्रवृत्तियाँ तथा शैलियाँ सामने आने लगीं। इसीलिए साहित्य में केवल आधुनिकतावाद कहने के बजाय साहित्यिक आधुनिकतावाद की संज्ञा अधिक उपयुक्त है।

आधुनिकता का युग यूरोप में उन्नीसवीं सदी से शुरू होकर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक माना जाता है। फ्रेंक कर्मोड के कथनानुसार आधुनिकता के दो अलग-अलग काल हैं:

(1) पुरो आधुनिकता जो अपने प्रारम्भ से लेकर 1914-20 के वर्षों तक जारी रहा।

(2) नव आधुनिकतावाद जो इस काल के बाद शुरू हुआ।

लेकिन इस प्रकार का काल विभाजन प्रत्येक देश के लिए संभव नहीं। काल का निर्धारण बहुत कुछ अलग-अलग देशों के आधुनिकीकरण के चरणों से संबद्ध है। यूरोप तथा अमेरिका के अतिरिक्त अन्य देशों में जिन्हें 'तीसरी दुनिया' की सामूहिक संज्ञा दी गई है यह प्रक्रिया (आधुनिकता और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया) बहुत बाद में शुरू हुई।

वर्जीनिया वुल्फ ने यह कहकर साहित्य-जगत को चौंका दिया कि दिसम्बर 1910 को या उसके आसपास मानव प्रकृति बदल गई अर्थात् इस नई मानव प्रकृति को प्रस्तुत करते हुए आधुनिकता का युग शुरू हो गया। इस विवाद में न पड़ते हुए हम विभिन्न देशों में आधुनिकता के प्रचलन के समय के बारे में यह कह सकते हैं :

(1) फ्रांस - 1890 से 1940 के बीच।

(2) जर्मनी-1890 से 1920 के बीच।

(3) रूस - 1900 से 1920 के बीच।

(4) इंग्लैण्ड-बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में तथा 1920 से 1930 के बीच।

(5) अमेरिका-प्रथम महायुद्ध से कुछ वर्ष पूर्व और युद्ध के दौरान।

(6) भारत-1950 के बाद।

भारत में आधुनिकतावाद पचास के दशक के आस-पास चर्चा का विषय बना जब यूरोप में विक्षुब्ध युवा (एंग्री यंगमैन) और अमेरिका में बीट्स की कृतियाँ तथा यूरोप के अस्तित्ववादी चिन्तक लेखकों-ज्याँ पाल सार्त्र, अल्बेयर कामू, सेम्युल बेकेट तथा युनीज आयोनेस्को-का प्रभाव हिन्दी लेखन तथा आलोचना पर साफ दिखाई देने लगा।

मोहन राकेश ने मिथक और इतिहास, जो बाद में मिथक बन जाता है, का उपयोग अपने दो नाटकों में किया है -'आषाढ़ का एक दिन' (1958) और 'लहरों के राजहंस' (1963)। इस पद्धति का उपयोग कभी मध्यकालीन बोध की दृष्टि से किया गया है, कभी रोमांटिक बोध की दृष्टि से, तो कभी आधुनिकता के बोध की दृष्टि से। क्या प्रसाद ने इतिहास का सहारा लेकर अपने युग को रोमांटिक दृष्टि से उजागर नहीं किया है? इन नाटकों के पात्रों को कहाँ तक ऐतिहासिक कहना संगत है। क्या प्रसाद ने वैदिक पात्रों के नामों को आधार बनाकर अपने युग को रोमांटिक दृष्टि से नहीं आँका है? क्या मनु वैदिककालीन पात्र हैं या प्रसादकालीन? क्या डॉ. सुरेश अवस्थी का कालिदास या नन्द को ऐतिहासिक पात्र मानना उसी तरह असंगत नहीं है? क्या कालिदास और नन्द राकेशकालीन नहीं हैं? यही मूल कारण है कि इन पात्रों को ऐतिहासिक मानकर इन पर अनेक आरोप लगते रहे हैं-कालिदास कमजोर क्यों हैं, नन्द असमंजस की स्थिति में क्यों है? राकेश ने या किसी और ने इतिहास का सहारा लेकर इतिहास का मजाक क्यों उड़ाया है? इन पात्रों के नाम पुराने हो सकते हैं, लेकिन इनका व्यक्तित्व बोध-विशेष के साँचे में ढ़ला होता है। अब सबसे अहम् सवाल यह है कि 'आषाढ़ का एक दिन' में या 'लहरों के राजहंस' में आधुनिकता का बोध है या रोमांटिक बोध-इसकी पहचान-परख नाटकों के माध्यम से करनी है।

मोहन राकेश के नाटकों में आधुनिकता के सन्दर्भ में मुझे कहना है कि 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' की रचना क्रमश: 1958 और 1963 के बाद हुई है जबकि भारत में आधुनिकता का स्पष्ट प्रभाव हिन्दी लेखन तथा आलोचना पर 1950 ई. के बाद साफ दिखाई देने लगा। भला मोहन राकेश जैसा संवेदनशील नाटककार इस साहित्यिक वैश्विक परिवर्तन से कैसे बच सकता है? अत: मोहन राकेश के तीनों महत्त्वपूर्ण नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' पर स्पष्ट प्रभाव आधुनिकता का दृष्टिगोचर होता है। 'आषाढ़ का एक दिन' हर कृति की तरह एक से अधिक संकेत देता है। इसमें कालिदास का परिवेश से कट जाने का संकेत है, कृतिकार के अपवादित होने का संकेत है, उसके असाधारण होने का संकेत है, राजनीति और साहित्य में होड़ का संकेत है, घर की खोज या आत्मीयता की खोज का संकेत है, जो बिखर कर टूट चुकी है, अपने घर में मेहमान होने का संकेत है। कालिदास के राजाश्रय ग्रहण करने के पश्चात् उधर मल्लिका भी इस अन्तराल में विलोम से जुड़ कर, माँ बन कर टूट चुकी है। कालिदास इस स्थिति में नहीं है कि वह फिर से अथ से आरम्भ कर सके, वह कालिदास नहीं रहा, दूसरा व्यक्ति हो गया है। अगर मल्लिका थोड़ी देर तक उसे पहचान नहीं पाती तो यह स्वाभाविक है। मल्लिका भी वह नहीं रही। सब कुछ बदल गया है। कालिदास के लिए मल्लिका का घर अपरिचित हो गया

है। स्वयं कालिदास के शब्दों में ''सम्भवत: पहचानती नहीं हो। और न पहचानना ही स्वाभाविक है, क्योंकि मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसे तुम पहले पहचानती रही हो। दूसरा व्यक्ति हूँ। और सच कहूँ तो वह व्यक्ति हूँ जिसे मैं स्वयं नहीं पहचानता।''[1] इस तरह परिचित के अपरिचित होने में आधुनिकता का बोध 'नयी कहानी के दौर' का है, राकेश की अपनी कहानी 'अपरिचित' और उषा प्रियम्वदा की कहानी 'वापसी' का है। और वह 'नयी कहानी के दौर' 1956 ई. बाद भारत में प्रारम्भ हुआ।

'लहरों के राजहंस' में अगर नायक की नियति अलग होने में है, तो 'आधे-अधूरे' (1969) में उसकी नियति घर की खोज में निजीपन की खोज है और निजीपन की खोज से मतलब नर-नारी के आपसी संबंधों की खोज है। इस नाटक में तीन दरवाजे वाले एक बंद कमरे में काले सूट वाले आदमी के दाखिल होने के बाद एक जोड़ा इस सवाल का जवाब खोज रहा है कि मानव की स्थिति और नियति क्या है? यह सवाल इनके तलवों में है जो सतह पर है। इसलिए नाटक लकीरी या एकपायी लगता है, अगर काले सूट वाले आदमी की बात को अलग भी रख दें और नाटक की राह से गुजरें तो इसकी शुरुआत एक कमरे से ही तो है, जो घर नहीं है, जिसमें बिखरी चीजें हैं और एक फालतू आदमी है, पति-पत्नी में तनाव का या एक-दूसरे के कट जाने का बोध होने लगता है। इस घर से बड़ी लड़की भाग चुकी है और छोटी गुस्ताख बन चुकी है, लड़का बेकार है, बाप भी बेकार है। इस घर को चलाने का सारा बोझ पत्नी के कंधों पर है जो नौकरी करती है और इसके साथ उसे बहुत कुछ करना पड़ता है। इस घर में एक नया आदमी आता है—इस स्त्री के खालीपन को भरने के लिए, उसके अधूरेपन को पूरा करने के लिए। इसी तरह बड़ी लड़की के नये घर में सब कुछ गलत है। इसका कारण हवा बताया गया है जो बड़ी लड़की और मनोज के बीच से गुजर कर स्थिति को गड़बड़ बना देती है, जिसमें आधुनिकता का बोध होने लगता है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, राजनीति तथा कला, संगीत, वास्तुशास्त्र, साहित्य और चिन्तन में जो परिवर्तन आए हैं, उत्तर-आधुनिकतावाद उनको परिलक्षित करने वाला एक व्यापक लेकिन विवादास्पद पारिभाषिक शब्द है।

उत्तर-आधुनिकता की मुख्य अवधारणा विरोधी विचार, हाशिये पर स्थित लोग, परिधि पर स्थित जातियाँ-अश्वेत, दलित जनजातियाँ, मूलवंशी समूह, नारी वर्ग, समलैंगिक स्त्री-पुरुष, हर प्रकार के विपथगामी लोग जिनकी पहचान या आवाज नहीं थी और जिन्हें सत्ता की भागीदारी, समाज में सक्रियता तथा सांस्कृतिक संवाद के दायरे से बाहर रखा या समझा गया था, अब वर्चस्व के संघर्ष के नए समूह बनकर उभरने लगे।

उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा का समग्र अध्ययन करने के पश्चात् इसकी मुख्य विशेषता निम्नलिखित है : विभेद और विभिन्नता, स्थानीयता और क्षेत्रीयता, विश्व प्रसिद्ध सभ्यता और लोक कलाओं का मिलाप, बुद्धिवाद और परा-भौतिकवाद पर बढ़ता अविश्वास, नारी तथा दमित-दलित विषयों का अध्ययन, महान आख्यान तथा सार्वभौमिक समालोचना सिद्धान्त का पतन, अर्थ की अनेकता तथा अनिश्चितता, बहुलतावाद तथा बहु-संस्कृतिवाद, विकेन्द्रीयता, वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा नस्ल, जाति तथा लिंग-भेद पर अधिक बल अर्थात् ऐसी विचार-पद्धति जिसमें वैश्विक क्षेत्रीय तथा जातीय संरचनाएँ एक-दूसरे से युद्धरत रहते हुए भी एक-दूसरे से मेल-जोल भी रखती हैं।

वर्तमान समय में यह प्रश्न बार-बार उठाया जाता है कि क्या आधुनिकता का युग समाप्त हो चुका है और उत्तर-आधुनिकता इसका अगला चरण है। कुछ लोग यह स्वीकार करते हैं कि उत्तर-आधुनिकता अन्य माध्यमों से आधुनिकता का ही विस्तार या इसकी परिपूर्ति है।

उत्तर-आधुनिकता केन्द्रीय वर्चस्व के विपरीत स्थानीयता तथा भेदों पर बल देती है जबकि आधुनिकता सार्वभौमिकता तथा एकरूपता पर आधारित है। आधुनिकता में पुन: निर्माण, पुन: स्थापना आदि और उत्तर-आधुनिकता में वि-रचना, विकेन्द्रीकरण शब्द प्रचलित हैं।

हम आधुनिकता एवं उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा एवं उससे उत्पन्न अभिव्यक्ति को निम्नलिखित वृत्त चित्र के द्वारा समझ सकते हैं :

अब हमें 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' या 'आधे-अधूरे' में उत्तर-आधुनिकता की पहचान-परख इनके नाटकों के माध्यम से करनी है।

यदि राकेश के सभी नाटकों पर सरसरी नजर डाली जाए तो एक संकेत बार-बार उभरता है—नायक लौटने के लिए अभिशप्त है। वह चाहे 'आषाढ़ का एक दिन' का नायक हो या 'लहरों के राजहंस' या 'आधे-अधूरे' का। वह उस घर में लौटने पर विवश है जो उसके लिए टूट चुका है, बिखर चुका है या उजड़ चुका है। 'आधे-अधूरे' की सावित्री के कथन महेन्द्रनाथ के संबंध में -''लौट आएँगे रात तक। हर शुक्र-शनीचर यही सब होता है यहाँ।''[2] 'आषाढ़ का एक दिन' का मातुल कालिदास के संबंध में स्पष्ट विचार व्यक्त करता है—''नहीं। उज्जयिनी नहीं गया। वहाँ के लोगों का तो कहना है कि

उसने संन्यास ले लिया है और काशी चला गया है। परन्तु मुझे विश्वास नहीं होता। उसका राजधानी में इतना मान है। यदि काश्मीर में रहना सम्भव नहीं था, तो उसे सीधे राजधानी चले जाना चाहिए था। परन्तु असंभव भी नहीं है। एक राजनीतिक जीवन दूसरे कालिदास। मैं आज तक दोनों में से किसी भी धुरी को नहीं पहचान पाया। मैं समझता हूँ कि जो कुछ मैं समझ पाता हूँ, सत्य सदा उसके विपरीत होता है। और मैं जब उस विपरीत तक पहुँचने लगता हूँ, तो सत्य उस विपरीत से विपरीत हो जाता है। अत: मैं जो कुछ समझ पाता हूँ, वह सदा झूठ होता है। इससे अब तुम निष्कर्ष निकाल लो कि सत्य क्या हो सकता है कि उसने संन्यास ले लिया है, या नहीं लिया। मैं समझता हूँ कि उसने संन्यास नहीं लिया, इसलिए सत्य यही होना चाहिए कि उसने संन्यास ले लिया है और काशी चला गया है।''[3] 'लहरों के राजहंस' में नंद के स्वयं के प्रति स्वयं की अभिव्यक्ति- ''मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं, और अपने को ढ़ँकने के लिए जिसके पास आवरण नहीं है। जिस किसी दिशा की ओर पैर बढ़ाता हूँ, लगता है वह दिशा स्वयं अपने धुरी पर डगमगा रही है, और मैं पीछे हट जाता हूँ। उनके पास था तो मन यहाँ के (घर के) लिए व्याकुल था।''[4]

एक बार फिर दिलचस्प सवाल 'आधे-अधूरे' की सावित्री के घर के बारे में उठता है कि स्वयं महेन्द्रनाथ को कहती है कि उनकी आदत ही है, हर शुक्र-शनीचर को सुबह घर छोड़ कर निकल जाना, रात होते ही लौट आना। महेन्द्रनाथ का रात होते ही घर लौट आने के पीछे कुछ समय के लिए पत्नी (सावित्री) पर आर्थिक निर्भरता का प्रश्न सामने आता है, परन्तु सावित्री खुद, जो नौकरी करती है, वह भी तो एक-एक कर कई पुरुषों के साथ घर से निकल कर (भागने के लिए) पुन: घर वापस आ जाती है। आखिर इस 'आधे-अधूरे' घर में रखा ही क्या है? जो बार-बार पात्र घर नये सिरे से बसाने के लिए असफल प्रयास करते हैं। घर बसाने का बार-बार असफल प्रयास ही उत्तर- आधुनिकता की मुख्य अवधारणा में से एक है।

एक संकेत जब बार-बार किसी लेखक की कृतियों में मिलने लगे तो इसका मतलब होता है, इसमें कुछ तो वजन होता है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। यह और बात है कि नायक लौटता है या उसे लौटाया जाता है, अगर उसे लौटाया जाता है तो इसमें वजन और बढ़ जाता है, लेखक उसे इस स्थिति में पहुँचाना चाहता है, यह उसका मूल उद्देश्य है। 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास को लौटाया जाता है जब वह क्षत-विक्षत-सा, द्वार खोलकर खड़ा रहता है। अपने परिवेश से उखड़ कर चले जाने और उखड़े परिवेश में लौटने से कालिदास टूट जाता है। कालिदास तो स्वयं टूटता ही है। इस टूटन का असर कालिदास का मामा मातुल पर भी दिखाई पड़ता है। मातुल 'राजप्रासाद' राजधानी में इतना और इस प्रकार टूटा कि उसका विचार भी 'विकेन्द्री' हो गया है। वह सत्य को असत्य के रूप में, और असत्य को सत्य के रूप में व्यक्त करता है। मातुल और कालिदास दोनों एक ही ग्राम से स्वस्थ रूप से राजधानी की ओर प्रस्थान करता है, परन्तु दोनों लौटता है। एक (मातुल) पैर तुड़वाकर वैशाखी के सहारे तो दूसरा (कालिदास) मानसिक रूप से क्षत-विक्षत रूप से। 'पैर टूटना' और 'मानसिक रूप से क्षत-विक्षत' होना, यह आधुनिकता बोध है और राजधानी से पुन: आरम्भ बिन्दु (ग्राम) में आना उत्तर-आधुनिकता का बोध कराता है।

'लहरों के राजहंस' में स्वयं नंद स्वीकार करता है कि मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूँ, जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं। नंद ख़ुद जीवन रूपी चौराहे पर असमंजस की स्थिति में है। जीवन के उस पड़ाव पर जहाँ एक ओर सुन्दरी का प्यार, सुन्दरी का आकर्षक शरीर, सुन्दरी के साथ पुन: गृहस्थ जीवन बिताने का कोमल और मधुर सपने आकर्षित कर रहा है, तो दूसरी ओर इन सब चीजों से ऊब कर बुद्ध के शरण में जाने की उत्कृष्ट अभिलाषा। नंद के मानस पटल में चलने वाली उपर्युक्त क्रिया एवं प्रतिक्रिया में आधुनिकता बोध का दर्शन होता है वहीं उस असमंजस की स्थिति में पुन: घर, सुन्दरी के पास आना उत्तर-आधुनिकता का बोध कराता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि कालिदास का ग्रामीण परिवेश (हाशिये/परिधि) से कट जाने में आधुनिकता का बोध है और इससे जुड़ने की यातना में यह बोध और गहराने लगता है। इसके साथ ही साथ कालिदास के लम्बे भाषण में, जिसे रुक-रुक कर मल्लिका को या सामाज को दिया गया है, इसमें भी आधुनिकता का बोध होता है।

कालिदास मातृगुप्त या सरकारी चोले से छुटकारा पाकर फिर से कालिदास का चोला पहन कर मल्लिका के साथ जीवन आरम्भ करना चाहते हैं। स्वयं कालिदास के शब्दों में ''इन पृष्ठों पर अब नया कुछ क्या लिखा जा सकता है? परन्तु इसके आगे भी तो जीवन शेष है। हम फिर अर्थ से आरम्भ कर सकते हैं।''[5] इसमें आयरनी का बोध है या त्रासदी का या दोनों का ....इसमें सन्देह तो हो सकता है, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि सरकारी चोला पहन कर कुछ नहीं किया, कुछ नहीं पाया, अगर कुछ पाया है, तो निश्चित ही ग्रामीण मल्लिका से, इसमें उत्तर-आधुनिकता का बोध अवश्य है। 'आषाढ़ का एक दिन'

के अंतिम अंक में कालिदास और मल्लिका के बीच संवाद चल रहा है। इसी बीच, मल्लिका की बच्ची का रोना, और इन दोनों पात्रों के बीच जीवन रूपी रंगमंच पर विलोम का प्रवेश से मल्लिका और कालिदास के संबंधों का ताड़ इस प्रकार विकेन्द्रित हुआ कि संबंधों का अंत ही हो गया। यह 'विकेन्द्रित अंत' निश्चित रूप से उत्तर-आधुनिकता की अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

'लहरों के राजहंस' (1968) के नायक के चेहरे पर तनाव की लकीरें अधिक गहरी लगती हैं, तनाव में अधिक कसाव आ गया है। कालिदास की तरह नन्द भी राकेशकालीन हैं। ''इस नाटक की रचना-प्रक्रिया की एक लम्बी कहानी है जिसे नाटककार ने विस्तार से कहा है।''[6] अपने अन्तिम रूप में यह नाटक एक कविता होने की गवाही देने लगता है। इसके काव्यात्मक दृष्टि में आधुनिकता धारण के स्तर पर नहीं, संवेदना के धरातल पर है। यह सही है कि अश्वघोष का 'सौन्दरनन्द' पढ़ते समय ''दो दीपाधार। एक के शिखर पर पुरुष-मूर्ति-बाँहें फैली हुई तथा आँखें आकाश की ओर उठी हुई दूसरे के शिखर पर नारी-मूर्ति बाहें सिमटी हुई तथा आँखें धरती की ओर झुकी हुई।''[7] अश्वघोष के काव्य का अपना बिम्ब लहरों पर तैरते राजहंस का है या अनिश्चय में उठे एक पैर का है। 'सौन्दरनन्द' में इस तरह के दो दीपाधार नहीं हैं। ''यह नाटककार के मन का बिम्ब है जो बार-बार बदलता रहा है।''[8] एक पते की बात 'सौन्दरनन्द' के बारे में कही गई है कि वह इसके निश्चित अन्त के बारे में है। इसमें निश्चित अन्त नाटककार को अखरता रहा है। इसका मुख्य कारण वर्तमान जीवन में मनुष्यों का अत्यधिक तनाव एवं द्वन्द्व में होना। इसके चलते एक निश्चित विचार पर नहीं पहुँचना। यह आधुनिकता बोध की अभिव्यक्ति है।

''मोहन राकेश के अनुसार सुन्दरी धरती का संकेत देती है जो आदमी को अपने तक बाँधें रखना चाहती है।''[9] यह बँधना चाहकर इससे उठना चाहता है। अपने लिए उपलब्धि खोजना चाहता है। लेकिन बुद्ध की तरह नहीं जो सबको तिलांजलि देकर उस उपलब्धि की ओर जाते हैं। नन्द तिलांजलि न तो देना चाहता है और न ही दे पाता है। वह धरती के माध्यम से या इसके भीतर से अधरती को पाना चाहता है। इसमें सन्देह नहीं है कि नन्द तनाव और दुविधा की स्थिति में है। क्या नन्द की खोज में उपलब्धि की खोज, घर की खोज, घर की खोज नहीं है या व्यक्तित्व की खोज में घर की खोज तो नहीं है? इस घर की खोज को धरती कह सकते हैं और व्यक्तित्व की खोज को उपलब्धि की खोज कह सकते हैं। मोहन राकेश ने इसे कहने के लिए ''राजहंस जहाँ सुन्दरी और नन्द के प्रतीक बन जाते हैं वहीं दीपाधार स्त्री-पुरुष के साथ-साथ पार्थिव-अपार्थिव के सूचक भी।''[10] यह प्रतीक बुनियादी बात को सकील और वायवी बना देती है। नन्द की दुविधा में आधुनिकता का बोध है जो उसे प्रश्न-चिह्न बना डालता है। इंसान पहले भी शंकाओं से घिरता रहता है, शंकाओं का समाधान भी होता रहा है। नन्द की शंकाओं का समाधान नहीं हो सकता है। इसलिए नाटक का अन्त एक नहीं अनेक बिन्दुओं की खोज से सुन्दरी के निम्न कथनों से होता है ''तुम .....! कितने-कितने बिन्दु खोजे हैं, आज तक तुमने? जाओ, एक और बिन्दु खोजो। कितने-कितने शब्दों में ढाँपा है उन बिन्दुओं को? .....जाओ, कुछ और शब्दों ढूँढ़ो! परन्तु अन्त में कहाँ रह जाते हैं तुम्हारे वे सब बिन्दु? कहाँ चले जाते हैं तुम्हारे वे सब शब्द? फिर भी क्यों वहीं के वहीं बने रहते हो तुम? वहीं .....।''[11] एक नहीं अनेक बिन्दुओं की खोज, जिस बिन्दु से सफर प्रारम्भ किया था, पुन: उसी बिन्दु पर वापस आना, उसी शब्दों पर जुबान स्थिर हो जाना, उसी घर (सुन्दरी) के पास आकर जीवन (नंद) का ठहर जाना, उत्तर-आधुनिकता की ओर संकेत करता है।

एक आदमी घर बसाता है अपने अधूरेपन को भरने के लिए, लेकिन सावित्री एक पूरे आदमी की तलाश में एक, दो, तीन और चार पुरुषों को आजमा चुकी है। कुछ और नामों का भी नाटक में संकेत दिया गया है, जिनको वह आजमा चुकी है। इन सबको उसने आधा-अधूरा पाया है। एक-सा पाया है। यह राज पुरुष चार के साथ संवाद में खुलता है। हर किसी के साथ सावित्री की शादी गलत साबित हो सकती थी। क्या यह सावित्री की नियति है या नारी की? उसे आखिरी कोशिश में एक बड़ा झटका खाना पड़ा है। मनोज के साथ जो उसकी बड़ी लड़की को भगाकर ले गया। और अंत में सावित्री का यह कथन कि—''बस! सब-के-सब....सब-के-सब! एक-से! बिल्कुल एक-से हैं आपलोग! अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही।''[12] और पुरुष चार के इस जवाब में आधुनिकता का बोध गहराने लगता है—''फिर भी तुम्हें लगता रहा है कि तुम चुनाव कर सकती हो। लेकिन दाएँ से हटकर बाएँ, सामने से हटकर पीछे, इस कोने से हटकर उस कोने में .....क्या सचमुच कहीं कोई चुनाव नजर आया है तुम्हें? बोलो, आया है नजर कहीं?''[13]

क्या अपने को, दूसरों को, एक-दूसरे को न समझ पाने में मानव की नियति अभिशप्त नहीं है? क्या यह नियति किसी ख़ास जमात के आदमी की है, या इन्सान की है? 'आधे-अधूरे' में यह बीच के तबके की लगती है कि इसमें बल जितना

स्थिति पर है उतना नियति पर नहीं है और 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' में यह इसलिए नहीं लगती कि इनमें बल जितना मानव की नियति पर है उतना स्थिति पर नहीं है और बल देने की बात इसलिए करनी पड़ती है कि नियति और स्थिति को एक-दूसरे से अलगाया भी नहीं जा सकता। इस बल के कारण इन नाटकों में रचना विधान का अंतर भी आ गया है। इस समय सवाल इनके रचना-विधान के संगत-असंगत या नाटकों के कृति-विकृति होने का नहीं है, इनमें आधुनिकता के बोध का है, जिसे पहचानने की कोशिश 'आधी-अधूरी' हो सकती है।

'आधे-अधूरे' में कमरा या घर पति-पत्नी दोनों के अनुकूल नहीं है। इसलिए पुरुष चार, पुरुष एक (महेन्द्रनाथ) के लिए छुटकारा माँगने आया है। वह मिल भी जाता है। लेकिन उसकी नियति इस घर में लौटने में है। कालिदास या नन्द की नियति महेन्द्रनाथ में अभिशप्त है। आज मानव की नियति घर लौटने में है। 'घर' लौटने की क्रिया उत्तर-आधुनिकता की ओर इंगित करता है। इतना ही नहीं इस नाटक में सावित्री मनोज को चाहती है। और मनोज बिन्नी को चाहता है। यह 'चाहने की क्रिया, अधिक उम्र से कम उम्र की ओर अग्रसर है। संबंधों में एक प्रकार का विकेन्द्रीकरण हो रहा है। इस दृष्टि से यहाँ पर भी उत्तर-आधुनिकता की अभिव्यक्ति हुई है।'

'आषाढ़ का एक दिन' में आधुनिकता के और भी कई आयाम हैं। विभिन्न पात्र उनमें सहायक हुए हैं। मातुल आज की अवसरवादी प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। सत्ताधारियों की चाटुकारिता और प्राप्त अवसर के अनुकूल अपने को बदल लेना उसकी प्रवृत्ति है। भौतिक लाभ ही उसका मुख्य लक्ष्य है। इसीलिए कालिदास द्वारा राजकीय सम्मान को स्वीकार न करने की बात सुनकर वह आगबबूला हो जाता है -''मेरी समझ में नहीं आता कि इसमें क्रय-विक्रय की क्या बात है। सम्मान मिलता है, ग्रहण करो। नहीं, कविता का मूल्य ही क्या है?''[14] उसकी भौतिक दृष्टि कविता को, कवि को महत्त्व नहीं देती, महत्त्व देती है—सत्ता को, राज्य को, राजकीय सम्मान को। कालिदास की कविता से उसे वितृष्णा है क्योंकि वह लोकनीति को ही समझता है। घर में वह बहुत तेज है, लेकिन प्रियंगुमंजरी के आगे बड़ा विनम्र, पक्का चाटुकार। गुप्तवंश के साथ संबंध उसके लिये बहुत बड़ी चीज है। उसके लिए अब पशुओं की देख-रेख एक बड़ी साधारण हेय बात है। लेकिन राकेश इस भौतिक दृष्टि के बहुत समर्थक नहीं हैं। अंतिम अंक में मातुल के संवादों में कृत्रिम जीवन से वितृष्णा और ऊपरी चमक से भरे जीवन का खोखलापन ही दिखाया गया है—आन्तरिकता और आत्मीयता का, अपनी मिट्टी की सोंधी गंध का अभाव ही जैसे उसे तोड़ देता है। मातुल के यहाँ के संवादों में सभ्यता, शिष्टता में छिपी बनावट को ही खोला गया है। भौतिक और अवसरवादी दृष्टि से जो कुछ समझ पाती है, वह सदा झूठ होता है यानी सत्य सदा उसके विपरीत होता है। अवसरवादिता और बाह्य जीवन का आकर्षण आज के मनुष्य की मनोवृत्ति है, जो मनुष्य को कुछ स्थायी नहीं देती है—देती है केवल एक क्षणिक सुख। आरंभिक अंकों में वह बड़ी तेज गतिवाला, बड़ा नाटकीय, सक्रिय है। यह सक्रियता आधुनिकता का द्योतक है, वही अंत में उसकी टूटन, झल्लाहट और उसके पीछे छिपे तीखे अनुभव अधिक स्पष्ट होते हैं। यह उत्तर-आधुनिकता की अभिव्यक्ति प्रदान करती है।

अगर हम नाटकों में पात्रों को आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता में विभाजित करें तो स्पष्ट पता चल जाता है। आधुनिकता के पात्रों में प्रारम्भ में कालिदास, प्रारंभ में ही मल्लिका, मातुल, दन्तुल, प्रियंगुमंजरी, अनुस्वार, अनुनासिक, श्वेतांग, श्यामांग, मैत्रेय, महेन्द्रनाथ, अशोक, बिन्नी, किन्नी, इत्यादि। उत्तर-आधुनिक पात्र में उत्तरार्द्ध में कालिदास एवं मल्लिका, अम्बिका, विलोम, सुन्दरी, उत्तरार्द्ध में नन्द, श्यामांग, अलका, सावित्री, उत्तरार्द्ध में महेन्द्रनाथ, जुनेजा, बिन्नी, पात्र एक, दो, तीन, चार इत्यादि।

अम्बिका, विलोम, सुन्दरी, लगभग सावित्री भी द्वन्द्व और संशय को पचा चुकी हैं। ये सब पात्र कोड़े यथार्थवादी हैं, इसलिए उत्तर-आधुनिक हैं।

सन्दर्भ :

01. मोहन राकेश; आषाढ़ का एक दिन, पृ. 95
02. मोहन राकेश; आधे-अधूरे, पृ. 45
03. मोहन राकेश; आषाढ़ का एक दिन, पृ. 91-92
04. मोहन राकेश; लहरों के राजहंस, पृ. 102
05. मोहन राकेश; आषाढ़ का एक दिन, पृ. 105
06. डॉ. सुरेश अवस्थी; लहरों के राजहंस की भूमिका,
07. मोहन राकेश; लहरों के राजहंस, पृ. 29
08. डॉ. इन्द्रनाथ मदान; आषाढ़ का एक दिन : विश्लेषण, विवेचन-आधुनिकता का सन्दर्भ, पृ. 115
09. वही, पृ. 116
10. गोविन्द चातक; आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश, पृ. 72
11. मोहन राकेश; लहरों के राजहंस, पृ. 103
12. मोहन राकेश; आधे-अधूरे, पृ. 97
13. वही, पृ. 97
14. मोहन राकेश; आषाढ़ का एक दिन, पृ. 26

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' उपन्यास में दलित विमर्श

मोनिका कुमारी*

'दलित' शब्द विभिन्न अर्थीय है, किन्तु व्यापक अर्थ में उन सारे मनुष्यों का पर्याय बन जाता है जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक दृष्टि से उपेक्षित, अपमान, मानवोचित सहज–सुलभ अधिकारों से वंचित है, पीड़ित है।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बैचेन' का दलित के संदर्भ में व्यक्तव्य है कि दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है तो दलित साहित्य डॉ. धर्मवीर के अनुसार वह है, जिसे दलित लेखक लिखते हैं। डॉ. माता प्रसाद ने दलित साहित्य उसे कहा है, जो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, क्षेत्र में बिछड़े हुए, उत्पीड़ित, अपमानित, शोषितों की पीड़ा को व्यक्त करता है, जिसमें विद्रोह युक्त भावना है, डॉ. जयप्रकाश कर्दम का मत है कि ''हिन्दी दलित साहित्य की देन सिर्फ़ दो दशक की है जिसका मूल स्त्रोत महाराष्ट्र का दलित साहित्य है। जबकि दलित चेतना का न्याय स्वातंत्र्योत्तर काल में अखिल भारतीय स्तर पर हुआ है।''[1]

हिन्दी दलित साहित्य मराठी के दलित साहित्य के प्रभाव के कारण अस्तित्व में आया, यह सर्वविदित है। हालाँकि हिंदी दलित साहित्य के अनुसंधाता मोहवश इसका आरंभ हिंदी गद्य के आरंभ से ही मानते हैं। कुछ तो इससे पूर्व की कतिपय पद्य रचनाओं को भी दलित साहित्य की श्रेणी में घसीट लाते हैं। वास्तव में हिन्दी दलित–साहित्य लगभग 1980 के आस–पास ही अस्तित्व में आया। इस बात को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि मराठी दलित साहित्य परिपक्व होकर जिन ऊँचाइयों को छू गया वहाँ हिंदी दलित साहित्य अभी संघर्ष कर रहा है।

हिंदी दलित साहित्य की उपन्यास विधा भी परंपरागत उपन्यासों से अलग अस्तित्व रखती है। जितनी व्यापक दलितों की महाकाव्यात्मक एवं जीवनव्यापी व्यथा–कथा है उसके लिए तो उपन्यास जैसी विधा का क्षेत्र उचित जान पड़ता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने ठीक ही कहा है, कि ''दलित साहित्य जन साहित्य है, यानि मास लिटरेचर सिर्फ़ इतना ही नहीं, लिटरेचर ऑफ एक्शन भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के विरूद्ध आक्रोश जनित संघर्ष है। इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य।''[2] और ऐसे दलित साहित्य के लिए उपन्यास विधा ही योग्य है, ऐसा मेरा अपना विचार है।

दलित चेतना और दलित–साहित्य की मुख्य प्रेरणाभूमि है तथागत बुद्ध की गहन मानवीय सोच और डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की क्रान्तिकारी विचारधारा। अंबेडकर जी के जीवन–दर्शन से ऊर्जा ग्रहण कर सन् 1950–60 के आस–पास महाराष्ट्र में दलित साहित्य का परिष्कृत विकास आरम्भ हुआ। ''वास्तव में औपनिवेशिक भारत और उससे मुक्ति आंदोलन के दौरान डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर जी के जीवन दर्शन और विचारधारा ने जिस अज्ञानता, अशिक्षा को दलित समाज के शोषण, दमन और उपेक्षा का कारण घोषित किया था, उसे हिंदी में प्रकाशित दलित उपन्यासों ने कथा का मुख्य आधार बनाया है।''[3] इन उपन्यासों में जीवन की वास्तविक सच्चाई का बयान किया गया है।

दलित विमर्श के क्रम में हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद से लेकर ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, सूरजपाल चौहान सभी का मूल्यांकन होता रहा है और उनके अवदानों की चर्चा होती रही है। किन्तु कुछ ऐसे भी साहित्यकार रहे हैं, जिन्होंने दलित आंदोलन के दो दशक पूर्व ही दलितों की दीन–हीन दशा को उसकी गहराई में जाकर झाँकने का प्रयास किया।

शोध छात्रा, दलहट्टा बाजार, कुम्हारटोली, मुंगेर– 811201
हिन्दी विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)
मोबाइल : 9931585830
ईमेल : monikajha1801@gmail.com

हिन्दी साहित्य के साम्यवादी विचारधारा के लेखकों ने शोषित-पीड़ित वर्ग के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त की। ऐसे ही साहित्यकारों की श्रेणी जिसमें एक नाम राही मासूम रज़ा का भी आता है, जिन्होंने अपनी रचनाओं को दलितों के प्रति अपनी सच्ची संवेदना व्यक्त की। विशेष रूप से रज़ा रचित 'आधा गाँव' में दलित विमर्श का जैसा चित्रण है, वह निस्संदेह दलित आंदोलन की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। 'आधा गाँव' आधुनिक भारतीय समाज के विभिन्न विषयों को समेटे हुए है। राही जी ने उत्तर प्रदेश के एक गाँव गंगौली के आधे टुकड़े को अपना कथा क्षेत्र बनाया है, जिसका वह स्वयं भोक्ता एवं जानकार है। हिन्दी उपन्यास जगत में शायद पहली बार मुस्लिम समाज के जनजीवन का यथार्थ-विविध रंगों में उसकी अच्छी और बुरी परछाइयों को लेकर प्रस्तुत हुए हैं जिन्होंने निश्चित रूप से भारतीय जीवन का एक और पहलू उजागर किया है।

'आधा गाँव' उपन्यास की कथा के केन्द्र में 'देश-विभाजन' से उत्पन्न द्वन्द्व है। किन्तु द्वन्द्व की त्रासदी के इर्द-गिर्द अनेक सामाजिक कुरीतियाँ भी अपने यथार्थ रूप में उद्घाटित होती है। पाकिस्तान बनने के सबके अलग-अलग तर्क व कारण थे। लेकिन खाते-पीते मुस्लिम कुलीनों का जो वर्ग अपने-अपने कारणों से पाकिस्तान न जा सका उसके दर्द की तान एक थी। 'आधा गाँव' के अब्बू मियाँ पाकिस्तान तो न जा सके लेकिन गंगौली छोड़ कर गाजीपुर जाना चाहते हैं क्योंकि गंगौली में तो रहने का मतबल है, ''जुलाहापन और राकियन को सलाम करो और रहो।''[4]

'आधा गाँव' के सिब्तू मियाँ की बीवी की प्रतिक्रिया ऐसी की खुदा गारंत करे कि इ पाकिस्तान को क्योंकि न ई मुआ पाकिस्तान बनता, न जमींदारी खत्म होती। गंधिया कहिस कि अच्छा मिंया लोग पाकिस्तान बना लिए, अच्छा तो जा जहन्नुम में..... जमींदारी खत्म।''[5] राही मासूम रज़ा पाकिस्तान के उदय व जमींदारी व्यवस्था की समाप्ति को 'आधा गाँव' के कथ्य में जिस तरह चित्रण किया है, उससे यह स्पष्ट है कि जमींदारी खात्मे के काँग्रेस के निर्णय को मुस्लिम लोग और मुसलमानों के कुलीन सामंत वर्ग के मुस्लिम विरोधी प्रचार के रूप में इस्तेमाल किया, ताकि पाकिस्तान अभियान को बल मिल सके। जमींदारों का यह परजीवी वर्ग न काँग्रेस के इस भूमि सुधारों को स्वीकार कर सकता था, न व्यस्क मताधिकारी पर आधारित भारतीय राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्था के उस जनतांत्रीकरण को, जिसके परिणामस्वरूप 'सुखरमवा चमार का बेटा परूसरमवा जेल से आते ही नेता हो गया।''[6]

'आँधा गाँव' 1966 में दलित विमर्श पर लिखा गया था जब हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श बहस का मुद्दा नहीं था। दरअसल राही मासूम रज़ा मुस्लिम या नारी-विमर्श को टुकड़ों-टुकड़ों में दर्ज न कर उसे एक सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। 'आधा-गाँव' की गंगौली के मियाँ लोगों के लिए यह समझा पाना कठिन था कि उनकी दुर्दशा के मूल में पाकिस्तान का बनना था या कि जमींदारी का समाप्त होना। हकीम साहब की त्रासदी दुहरी थी, ''एक तो बैठा रहा..... ओ पाकिस्तान चला गया। एक जमींदारी रही, ओहू को समझो कि पाकिस्तान चली गई। अरे जौन चीज हमरे पास न है, ओ पाकिस्तान न गई ? नौ पराणी का पेट कैसे चलायें।''[7]

आधा गाँव के औपन्यासिक कथ्य में मुस्लिम सामन्तों व दलितों में अन्तविर्रोध का विमर्श आरंभ से अन्त तक उपस्थित है। जहाँ राही मासूम रज़ा सामन्ती व्यवस्था के रख-रखाव में दलितों व निम्न जातियों की नृत्य व सेवक की भूमिका को रेखांकित करते हैं, वहीं वे दलितों की सामाजिक चेतना व उनके सशक्तिकरण का विमर्श भी रचते हैं, उपन्यास के प्रांरभ में ही सुलेमान चा द्वारा झंगटिया बो को घर में डाल लेने के प्रसंग में यह उल्लेख है कि ''चमार चढ़ आये थे । और यह भी फुन्नन मियाँ ने बड़ी मुश्किल से उन्हें समझा-बुझाकर पाँच बीसी पर तय किया था मगर गया अहीर का कहना था कि चमारों को सिर्फ़ तीन बीसी मिले थे। बाकी के दो बीसी फुन्नन मियाँ

'आधा गाँव' उपन्यास के फुन्नन मियाँ गंगौली के छोटी जमींदारी हैं, फुन्नन ऐसे पात्र हैं जो पढ़े-लिखे नहीं हैं। गंगौली में एक तरफ मियाँ लोगों की जमींदारी का गुरूर और ठाट-बाट है तो दूसरी तरफ जीवन की विद्रूपताएँ हैं, खोखलापन है, जो मोहर्रम के महत्त्वपूर्ण अवसर से जुड़े क्रिया-कलापों के माध्यम से बखूबी सामने आता है। आर्थिक सरोकारों का अध्ययन भी राही के औपन्यासिक पात्रों के माध्यम से किया जा सकता है। राही मार्क्सवादी विचारधारा के अनुयायी थे। इसमें एक वर्ग शोषकों का है तो दूसरा शोषितों का। शोषक वर्ग के जमींदार, महाजन, पूँजीपति तथा पुलिस, प्रशासन द्वारा शोषितों का विभिन्न तरीकों से आर्थिक दोहन हुआ है। जमींदारी विघटन के बाद की स्थितियों का पूरा ढाँचा टूट गया। गंगौली का जमींदार लोग गाजीपुर में पान की दुकान नहीं खोल सकता था।

के काम आये थे।''[8]

दलित चेतना का विमर्श रचते हुए राही मासूम रज़ा इस तथ्य को भी उजागर करते हैं कि भारतीय समाज की सामंती हिन्दू व मुस्लिम का भेद किए बिना दलितों के राजनीतिक उभार को लेकर कितनी असहमति थी। परूसराम चमार के एम.एल.ए. बनने व जमींदारी के बाद हकीम साहब 'परूसराम' के बाप सुखरमवा के कर्जदार''[9] तो हो गए थे, लेकिन चमार होने के कारण परूसराम को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो पाना अभी शेष था। जहाँ दलित, सवर्ण हिन्दू-मुस्लिम सभी की उपस्थिति के अपने तर्क थे।

'आधा गाँव' उपन्यास के फुन्नन मियाँ गंगौली के छोटी जमींदारी हैं, फुन्नन ऐसे पात्र हैं जो पढ़े-लिखे नहीं हैं। गंगौली में एक तरफ मियाँ लोगों की जमींदारी का गुरूर और ठाट-बाट है तो दूसरी तरफ जीवन की विद्रूपताएँ हैं, खोखलापन है, जो मोहर्रम के महत्त्वपूर्ण अवसर से जुड़े क्रिया-कलापों के माध्यम से बखूबी सामने आता है। आर्थिक सरोकारों का अध्ययन भी राही के औपन्यासिक पात्रों के माध्यम से किया जा सकता है। राही मार्क्सवादी विचारधारा के अनुयायी थे। इसमें एक वर्ग शोषकों का है तो दूसरा शोषितों का। शोषक वर्ग के जमींदार, महाजन, पूँजीपति तथा पुलिस, प्रशासन द्वारा शोषितों का विभिन्न तरीकों से आर्थिक दोहन हुआ है। जमींदारी विघटन के बाद की स्थितियों का पूरा ढाँचा टूट गया। गंगौली का जमींदार लोग गाजीपुर में पान की दुकान नहीं खोल सकता था। पर कराची में उसे कौन जानता है, इसलिए जब उससे गंगौली छूटी तो वह गंगौली से इतनी दूर चला गया जहाँ कोई काम करके जीने में उसे शर्म न आए। जमींदार गया तो उसके साथ जीने वाले भी गए कि उन्हें भी ठीक से जीना नहीं आता था। इन पाकिस्तान जाने वालों को मुसलमान कहना ठीक नहीं है।' आधा गाँव' में मुसलमान जमींदार और किसान, हिन्दू जमींदारों और किसानों की तरह ही, औपनिवेशिक शासन के अभिशापों के शिकार थे। जमींदार चाहे हिन्दू हो या मुसलमान समान रूप से किसानों का शोषण करते हैं। हमारे समाज में दलित स्त्रियों का जिस तरह शोषण होता रहा है उसके यथार्थ का भी रज़ा ने ' आधा गाँव' में सूक्ष्म चित्रण किया है। रज़ा झंगटिया चमाईन, दुलरिया भंगिन, मेहरूनिया व सैफुनियाँ नाईन, नर्रमा बी व कुलसुम जुलाहिन सरीखे स्त्री पात्रों के माध्यम से दलित नारी विमर्श को जहाँ सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते है, वही वे सामंती अभिजात्य की परिगता व बड़प्पन के छद्म को भी बेपर्दा करते हैं। रज़ा का यह दलित विमर्श जातिगत संस्कारों के दंभ को बेपर्द करता है।

आधा गाँव के हकीम साहब, अब्बू मियाँ, फुस्सू मियाँ और मौलवी बेदार सरीखे पात्रों के द्वारा राही मासूम रज़ा जमींदारों की उस परजीवी वर्ग की जड़विहीनता को अपने उपन्यास में रेखांकित किया है जो ख़ुद काश्त नहीं थे। कुलीन मुसलमानों के प्रति निर्मम आलोचनात्मक नजरिया अपनाकर अपने वर्ग हितों के विरूद्ध खड़े होते हैं। स्वतंत्रता के बाद जमींदारों की दुर्दशा का जो व्यापक चित्रण उपन्यास में है वह मुसलमानों की लीग समर्थन के लिए बनी मानसिकता के औचित्य को एक प्रकार से सिद्ध ही करता है।

संदर्भ सूची -

1. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन, पंकज पुस्तक मंदिर, दिल्ली, पृ. सं.-200, भूमिका से।
2. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकी, पृ. सं.-48
3. आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, डॉ. देवेन्द्र चौबे, पृ. सं.-174
4. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, पृ. सं.-320
5. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, पृ. सं.-313
6. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, पृ. सं.-278
7. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, पृ. सं.-318
8. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, पृ. सं.-42
9. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, पृ. सं.-144

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

बागड़ी समाज के रीति–रिवाज व विभिन्न रस्में

डॉ. राजेन्द्र कुमार सेन*

भारत विविध संस्कृतियों का देश है। यहां की संस्कृतियों का आधार यहां की भौगोलिक परिस्थितियां हैं। पश्चिमोत्तर भारत में पंजाब, हरियाणा और राजस्थान की सीमाओं पर एक विशिष्ट सांस्कृतिक इकाई है। इस इकाई का आधार यहां की बोली है जिसे बागड़ी बोली कहा जाता है। बागड़ी बोली मूलत: राजस्थानी, हरियाणवी और पंजाबी भाषाओं का मिश्रित रूप है। इस का भौगोलिक विस्तार राजस्थान के श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़ जिलों तथा बीकानेर तथा चुरू के कुछ इलाकों तक है। पंजाब में इसका विस्तार फाजिल्का तथा फिरोजपुर जिलों के अतिरिक्त मुक्तसर तथा बठिण्डा जिलों के ग्रामीण अंचलों तक है। हरियाणा में इसका विस्तार सिरसा तथा फतेहाबाद जिलों के अतिरिक्त हिसार के कुछ अंचलों तक है। बागड़ी बोली मारवाड़ी की एक उपबोली मानी जाती है जिसमें हरियाणवी और मलवई पंजाबी के शब्दों का प्रभाव होने के कारण एक नवीन बोली का विकास हुआ। बागड़ी बोली के कारण यहां के लोगों को बागड़ी कहा जाता है। आर्य मूल की यह प्रजाति आरंभ में एक कबिलाई व्यवस्था थी परंतु धीरे धीरे इसमें परिवर्तन आया। परंतु आज भी यह अपने ग्रामीण स्वरूप को बनाए हुए है। बागड़ी समाज अपने रीति रिवाजों और विविध रस्मों के द्वारा अपनी प्राचीन संस्कृति और परंपरा को बनाए हुए है। बागड़ी समाज के प्रमुख रीति–रिवाज और परंपरा का विवरण निम्नानुसार है।

जन्म की रस्में

जन्म घुटी–बागड़ी समाज में बच्चे के जन्म के पश्चात् सबसे पहले उसे जन्मघुट्टी दी जाती है। जन्मघुटी उसी व्यक्ति के हाथ से दिलाई जाती है, जिस जैसे गुण वे बच्चों में चाहते हैं। उनकी मान्यता है कि यदि फलां गुण वाला व्यक्ति उसे अपने हाथ से घुटी देगा तो बच्चा बड़ा होकर उसके जैसे ही गुण वाला होगा।

थाली बजाणी–बागड़ी समाज में पुत्र जन्म पर थाली बजाने की परंपरा है। इसका अर्थ कि लोगों को संकेत देना कि घर में पुत्र का जन्म हुआ है। इसके लिए घर की सबसे बुजुर्ग महिला कांसे की थाली को चांदी के आभूषण से पीटती हुई घर का अथवा पूरे मोहल्ले का चक्कर लगाती है। इससे आस–पड़ोस के लोगों को संकेत हो जाता है कि घर में लड़के का जन्म हुआ है। पुत्री के जन्म पर इस तरह की रस्म की अदायगी नहीं की जाती।

बधाई भेजणी–डाली टांगणी–घर में पौत्र के जन्म पर उसके ननिहाल व नाती के जन्म पर उसके दादा के परिवार में बधाई भेजी जाती है। नाई खेजड़ी की टहनी (डाली) लेकर बधाई देने जाता है। नाई को उपहार स्वरूप पैसे व मिठाई भेंट की जाती है। आजकल नाई की जगह यह रस्म मामा व काका भी अदा करने लगे हैं।

बेमाता मांडणी–पुत्र जन्म के अगले दिन दीवार पर गोबर से बेमाता बनाई जाती है, और लाल कपड़ा माता को ओढ़ाया जाता है। माता के आगे गेहूं के दाने व प्रसाद रखा जाता है। साथ ही साथ एक कोरा कागज व पैन भी रखा जाता है। ऐसी मान्यता है कि माता आकर उस कोरे कागज पर बच्चे के लेख लिख जाएगी और उन लेखों के आधार पर ही बच्चे का भविष्य निश्चित होगा।

झगला टोपी–बच्चे के जन्म पर उसके लिए झगला टोपी की खरीददारी की जाती है। पुराने समय में घर की बुजुर्ग घर के बुजुर्ग के कपड़ों से ही बच्चे के लिए हाथों से झगला सिलती

सहायक प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, पंजाब केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बठिण्डा
मोबाईल 9888618975
ईमेल : rajinderkumar.sen@gmail.com

थी । मान्यता थी कि यदि बुजुर्ग के कपड़े के बने झगले बच्चे को पहनाये जाएंगे तो बच्चे अपने बुजुर्गों जैसे गुणवान बनेंगें।

जमावणो–जच्चा के लिए जमावणा तैयार किया जाता है। इसमें अजवायन, सिंघाड़े, सौंफ आदि के लड्डू आदि बनाये जाते हैं। जच्चा को प्रतिदिन चाय व दूध के साथ इन लड्डूओं का सेवन करवाया जाता है। जितने दिन जच्चा जमावणा खाती है उतने दिन उसे रोटी व मसालेदार सब्जियों का सेवन कम करवाया जाता है।

टाबर गी लोई करनी/सिर घी घालणो–शिशु के जन्म के पश्चात् लगभग चार–पांच दिनों तक आटे की लोई को गाय के घी में डुबोकर शिशु के शरीर पर मलने से उसके शरीर पर उगे अतिरिक्त बाल झड़ जाते हैं। जच्चा के सिर में भी गाय के घी से मालिश की जाती है। इससे प्रसव के दौरान कमजोर पड़ी हुई सिर की मांसपेशियां पुन: अपने रूप में आ जाती है।

छठी पूजन–जन्म के छ: दिन पश्चात् शिशु को नए कपड़े पहनाए जाते हैं व खीर व हलवे का बेमाता को भोग लगाया जाता है। इस दिन उसके हाथों व पैरों में धागे (पुंछिए) बांधे जाते हैं व आँखों में काजल डाला जाता है।

तागड़ी पुंछिया बांधणा–छठी पूजन वाले दिन शिशु के पैरों व हाथों में पुंछिए व कमर पर तागड़ी बांधी जाती है।

जच्चा गो पीलो–जिस जच्चा ने पुत्र को जन्म दिया है। उसके लिए पीला पोमचा (एक ख़ास प्रकार की ओढ़णी) खरीदा जाता है। पुत्र के नामकरण के समय यह पोमचा जच्चा ओढ़ती है। पीला ससुराल या मायका दोनों की तरफ से हो सकता है। परंतु बागड़ी परिवार में ज़्यादातर ससुराल परिवार वाले ही पीला पोमचा खरीदते हैं । इससे संबंधित एक प्रसिद्ध लोकगीत है—

गाँव धणी सूं साहिबा अरज करो नी
दोय बीगा धरती दिरा दयो गाड़ा मारूजी, पीलो रंगा दयो।
(बागड़ी गीत मंजरी, पृ. 7)

पोतड़ो रंगणो–पुत्र जन्म पर उसके नामकरण के समय पहनाये जाने के लिए पोतड़ा रंगा जाता हैं। एक सफेद कपड़ा लेकर उसके किनारों को हल्दी के पानी से रंगा जाता है व उसपर स्वास्तिक का निशान बनाया जाता है।

नामकरण–पंडित से निकलवाये शुभ मुहूर्त के अनुसार बच्चे का नामकरण संस्कार किया जाता है। पंडित बच्चे के माता पिता को हवन की वेदी के सामने बिठाकर बच्चे का नामकरण करता है। यदि बच्चा दुष्ट ग्रहों के प्रभाव में हो तो डाकोत के द्वारा उसका नामकरण किया जाता है। उसके पश्चात् पंडित उसका नामकरण करता है। ऐसा माना जाता है कि डाकोत द्वारा नामकरण करने से बच्चे पर से दुष्ट ग्रहों का प्रभाव दूर हो जाता है।

सांखिया पूरना–पुत्र जन्म के समय जच्चा कक्ष के द्वार पर उसकी ननंद द्वारा स्वास्तिक व सूर्य का निशान गोबर से बनाया जाता है। उसका अर्थ यह लिया जाता है कि जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी पर तेज प्रदान करता हुआ अजर–अमर है उसी प्रकार शिशु भी उसी के समान प्रतापी हो व स्वास्तिक देवता के रूप में सदा उस पर अपना आशीर्वाद का हाथ रखे। (जन्म से विवाह का नेगचार, पृ. 45)

देवता गी पातड़यां–पुत्र/पुत्री के नामकरण के समय उसके गले में काले धागे में पिरोकर भगवान की चांदी की बनी मूर्तियां डाली जाती है। इसके साथ ही साथ नजरबट्टू भी डाला जाता है। नहलाने के पश्चात् उसके माथे पर काले काजल का टीका भी नजर से बचाने के लिए लगाया जाता है।

जलवा पूजन–पुत्र/पुत्री जन्म के पश्चात् करीब एक या डेढ़ महीने तक जच्चा से घर के कार्य नहीं करवाये जाते है। जब जच्चा घर के कार्य करने योग्य हो जाती है तो उसे सबसे पहले जल का पूजन करवाया जाता है उसके पश्चात् ही जच्चा घर के कार्य करने लगती है।

जलवा पूजन–बागड़ी समाज के लोगों के जीवन में जल का महत्त्व दर्शाता है। क्योंकि हमारा प्रत्येक कार्य जल से ही होता है जैसे–खाना बनाना, पीना, कपड़े धोना, घर की साफ–सफाई, बर्तन धोना इत्यादि। तभी तो जल को जीवन कहा गया है। अत: बागड़ी लोग जल को देवता के समान पूजते हैं व जल की एक बूंद भी व्यर्थ बहाना अच्छा नहीं मानते। इसी महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए बागड़ी समाज में जलवा पूजन की रस्म करवाई जाती है। ताकि पीढ़ी दर पीढ़ी जल का महत्त्व बरकरार रहे। (जन्म से विवाह का नेगचार, पृ. 54)

विवाह की रस्में (नेगचार) बागड़ी समुदाय में शादी से संबंधित बहुत सारे रीति–रिवाज व रस्में होती हैं। इन सब रस्मों में सबसे पवित्र रस्म विवाह की मानी जाती है। विवाह से जुड़े अनेक दस्तूर होते हैं जो इस प्रकार हैं–

रिश्तो/सगाई–बागड़ी समुदाय में कई इलाकों और जातियों में विवाह की रस्म आखातीज को की जाती है। बागड़ी लोगों का मानना है कि इस दिन का विवाह बिना पंडित से मुहूर्त के भी किया जा सकता है, इसको 'अणबूझ साहवा' कहते हैं। पहले के समय में बागड़ी समुदाय में बाल विवाह प्रचलित था परंतु

वर्तमान समय में सरकार ने इस पर भली भाँति रोक लगा दी है। बालिग लड़के व लड़की की कुंडली मिलान करने के पश्चात् उनकी सगाई कर दी जाती है। पुराने समय में एक पिता अपने बेटी के लिए योग्य वर की तलाश करने के लिए पंडित को भेजता था। वह पंडित जाकर लड़की के योग्य वर ढूंढकर उसकी सगाई पक्की कर आता था। उस समय यह भी प्रचलन था कि अगर लड़का किसी कारणवश बारात लेकर नहीं आ पाता तो उसकी जगह शालिग्राम पत्थर के साथ ही लड़की के फेरे संपन्न करके विदा कर दिया जाता था।

सगाई के समय वधू पक्ष के 10-15 लोग वर पक्ष के घर जाते हैं। वहां जाकर वे टीके का दस्तूर करते हैं। इस दस्तूर में वे लड़के को घड़ी, अंगूठी व सोने की चेन आदि पहनाते हैं व लड़के को तिलक करके हाथ में नारियल, पैसे व कपड़े रखते हैं। टीके का दस्तूर करने के पश्चात् दोनों पक्ष के लोग मिलकर शादी की तारीख तय करते हैं।(राजस्थानी संस्कृति री ओलखाण, पृ. 107)

सावो/शादी की तारीख तय करना-विवाह से दस पन्द्रह दिन पहले वधू पक्ष के लोग पंडित को बुलाकर विवाह के लिए शुभमुहूर्त निकलवाते हैं। वे पंडित से सावो लिखवाकर वर पक्ष के घर भेजते हैं। पंडित यह सावा लड़के के दादा, पिता अथवा किसी बड़े बुजुर्ग के हाथों में सौंपता है। सावा निकलने के बाद विवाह पक्का माना जाता है।

पीला चावल-वधू पक्ष के लोग वर पक्ष के घर जाते हैं। वहां जाकर वर पक्ष के रिश्तेदारों को सावा देते हैं। उनके पक्ष का पंडित भी अपना बनाया सावा पढ़कर सुनाते हैं व सबकी मौजूदगी में चावल को हल्दी से रंगकर उनका रंग पीला कर दिया जाता है। पोटली में पीले चावलों को दो हिस्सों में बांटकर एक हिस्सा लड़की वालों को व दूसरा हिस्सा लड़के वालों को दे दिया जाता है।

वर्तमान समय में हालांकि निमंत्रण पत्र (कुंकुम पत्री) भेजे जाने लगे हैं परंतु पुराने समय में लोगो को निमंत्रण के रूप में पीले चावल के दाने दिये जाते थे। आज भी बागड़ी समुदाय में ये चावल निमंत्रण पत्र के साथ ही दिये जाते हैं। सबसे पहला निमंत्रण विनायक जी (गणेश जी) को दिया जाता है। उसके पश्चात् अन्य रिश्तेदारों को शादी में आने का न्यौता दिया जाता है।

गीत पुलहाणा/ मांगलिक गीत-पीले चावल की रस्म के पश्चात् घर में मांगलिक गीत गाये जाने की रस्म शुरू की जाती है। इसके लिए उन्हें सुबह व शाम गीत गाने के लिए बुलावा भेजा जाता है। दोपहर व रात के समय बन्ना-बन्नी के गीत गाये जाते हैं। गीत गाने आई स्त्रियों को घर जाते समय शगुन के तौर पर गुड़ दिया जाता है। शादी वाले घर का माहौल अत्यंत खुशनुमा होता है।

बरी टीकणी-वधू की शादी की पोशाक को बरी कहा जाता है। इसकी खरीददारी वर पक्ष वाले शादी से दस बारह दिन पहले ही कर लेते हैं। बरी के साथ ही सुहाग का चूड़ा भी खरीदा जाता है। बरी को घर पर लाने के पश्चात् उसे टीका करने का रिवाज है। अपने आस-पड़ोस की स्त्रियों को बुलाकर मांगलिक गीतों के साथ बरी को टीका जाता है।

पडलौ मुलावणो-पडलौ वर पक्ष वाले खरीदते हैं। इसमें मेवे, वधू के गहने, मौड़, कांकण डोरड़ा, सुहाग छड़ा जैसी चीजें होती हैं। पडलै का सामान समेलै के समय बताने का रिवाज है।

बान बिठाणो-शादी से पाँच अथवा सात दिन पहले लड़के व लड़की का बान बिठाने की रस्म होती है। लड़के का बान सुबह के समय व लड़की का बान शाम के समय बिठाया जाता है। इस दिन लड़के को पाट पर बिठाया जाता है उसके आगे एक छाज में सात प्रकार का धान रखा जाता है। सात सुहागिन औरतें उस धान को लड़के के हाथ लगवाकर बारी-बारी ओखली में डलवाती जाती है। इसके पीछे तर्क यही है कि आने वाले जीवन में तुम्हारा घर धन धान्य से पूर्ण हो और धान्य के भंडार हमेशा भरे रहे। लड़के के सामने एक खाट पर कपड़ा बिछाया जाता है उस पर जल से भरा कलश रखा जाता है और उस कलश में खेजड़ी की टहनी डाली जाती है। शादी के आगे की रस्मों में उसी कलश का पानी लड़के के दाएँ व बाएँ वारा जाता है। दस तक के लड़के को विनायक बनाया जाता है जो कि शादी तक उसके साथ-साथ ही रहता है, उसे 'बिनायकियो' बोला जाता है व लड़की को 'बिनायकणी'। लड़की का बान भी इसी प्रकार ही बिठाया जाता है।

ढोल बधारणो-बान की रस्म वाले दिन से ही घर में ढोल बजना आरंभ हो जाता है। जब ढोली पहली बार घर में ढोल लेकर आता है तो लड़के की बहन अथवा भुआ उस ढोली व ढोल को तिलक लगाकर नेग देती है।

बिनायक बधारनो-बान वाले दिन अथवा उससे अगले दिन बिनायक को बधारने का रिवाज है। इसके लिए कुम्हार को मिट्टी से विनायक बनाने का न्यौता दिया जाता है। विनायक बधारने वाले दिन कुम्हार अपनी पत्नी के साथ विवाह वाले घर के द्वार पर आकर खड़ा हो जाता है। विवाह वाले घर की स्त्रियाँ

आँगन से गीत गाते हुए अपने द्वार तक पहुँचती है और लड़के की माता विनायक जी को लाल रंग का कपड़ा ओढाकर कुम्हार की थाली से अपनी थाली में रख लेती है। कुम्हार विनायक जी के साथ ही साथ केर की एक टहनी भी लेकर आता है जिसे बागड़ी में 'मुंझणा' कहा जाता है, उसे भी तिलक किया जाता है। विनायक को लेने के पश्चात् कुम्हार व उसकी पत्नी को कपड़े, पैसे व मिठाई देकर विदा किया जाता है।

पीठी/हलदहाथ–बान बैठने वाले दिन से ही पीठी की रस्म भी शुरू हो जाती है। बान से लेकर शादी वाले दिन तक पीठी की रस्म अदा की जाती है । बान वाले दिन पीठी चढाने की रस्म होती है व शादी वाले दिन पीठी उतारने की रस्म होती है। पीठी चढाने के लिए लड़के/लड़की को सुथार से बनवाये नये पाटे पर बिठाया जाता है। पीठी बेसन व गेहूं के आटे में हल्दी व सरसों के तेल को मिलाकर बनाया गया एक लेप होता है। इसका तर्क इतना ही है कि इससे वर व वधू का रंग निखर जाता है। पीठी चढाने की रस्म में सात सुहागिन स्त्रियाँ लड़के के हाथों, पैरों व सिर तक पीठी लगाती है।

गारै गा हाथ लगाणा–बान के अगले दिन गारे के हाथ लगाने की रस्म की जाती है। इस रस्म में गाय के गोबर, लाल मिट्टी व पानी से बना लेप एक दीवार पर सात सुहागिनों द्वारा लगाया जाता है व साथ ही साथ मांगलिक गीत गाये जाते हैं। पुराने समय में घर मिट्टी से बने होते थे तो उन्हें गारे से लेप किया जाता था। परंतु आजकल ये केवल एक रस्म बनकर रह गई है क्योंकि आजकल के घर पक्की ईंटों से बने होते हैं। इसके पीछे तर्क केवल यह है कि इस दिन घर की सफाई की जाती है व घर को संवारा जाता है।

बन्दोरो–बान बैठने वाले दिन से ही बन्दोरे की रस्म शुरू हो जाती है। बान वाले दिन से शादी वाले दिन तक लड़का व लड़की अपने घर भोजन नहीं करते वे अपने चाचा–ताऊ अथवा अन्य रिश्तेदारों के घर भोजन करने जाते हैं। जिस रिश्तेदार ने उन्हें भोजन करवाना हो वो लड़का व लड़की के माता पिता को बन्दोरे का न्यौता देता है। फिर लड़का व लड़की शादी में शामिल होने आए सभी रिश्तेदारों के साथ उनके घर पर भोजन करने जाते हैं। बन्दोरा ले जाते समय ढोल के साथ खूब नाच गाना होता है व स्त्रियाँ मांगलिक गीत गाती हुई चलती है। जिनके घर पर बन्दोरा होता है उस घर की स्त्री अपने द्वार पर तिलक की थाली लेकर खड़ी हो जाती है। जब लड़का अथवा लड़की वहां पहुँचते हैं तो तिलक लगाकर उसकी आरती उतारी जाती है। फिर उसे घर में ले जाया जाता है व खाना खिलाया जाता है। इसके पश्चात् उस घर वाले लड़का अथवा लड़की को नेग में कपड़े व बान का पैसा देते हैं।

राती जोगो–शादी वाले दिन से पहली रात राती जोगा होता है। इसमें स्त्रियाँ देवी देवताओं के भजन गाती है। राती जोगा वाले दिन लड़का व लड़की को मेहंदी चढाई जाती है उसके बाद मेहंदी लगाई जाती है।

न्यूंतो अर जिमणार–शादी वाले दिन सुबह के समय जिमणार होता है। इसमें सभी रिश्तेदारों को भोजन कराया जाता है। भोजन के लिए घर–घर न्यौंता दिया जाता है और सभी रिश्तेदार नियत समय पर आकर भोजन करते हैं। आजकल की भाषा में इसे पार्टी कहते हैं। जिमणार में आने वाले लोग खाना खाकर लड़के को बान का नेग देते हैं।

भात–शादी वाले दिन ही भात की रस्म अदा की जाती है। इसमें लड़का अथवा लड़की के ननिहाल वाले अपनी बहन के घर कपड़े, गहने व पैसे आदि लेकर आते हैं। भात की रस्म के लिए पहले लड़के व लड़की की माँ अपने मायके जाकर अपने पिता, भाईयों व अन्य रिश्तेदारों को भात का न्यौंता लेकर जाती है। वह उन सबको तिलक लगाकर अपने पुत्र/पुत्री की शादी में आने का न्यौंता देती है। सभी को मिठाई के रूप में गुड़ बाँटा जाता है।

जो भात लेकर आते हैं उनको 'भातवी' कहा जाता है। शादी वाले दिन भातवी अपनी बहन अथवा बेटी के द्वार पर पहुँचते हैं। उनकी बहन/बेटी उनका तिलक लगाकर स्वागत करती है। सभी रिश्तेदारों की उपस्थिति में भात का सामान दिया जाता है व गिनाया जाता है। (जन्म से विवाह का नेगचार, पृ. 122)

पीठी उतारनी व झोल घालणो–भात की रस्म के बाद लड़का/लड़की की पीठी उतारने की रस्म होती है। इसमें सात सुहागिनें मिलकर पीठी के लेप को सिर से पांव की तरफ लगाती है। पीठी उतारने की रस्म के पश्चात् झोल की रस्म होती है। इसमें कांसे के बाटकिये में दही व एक पैसा डालकर उस दही को लड़का/लड़की के सिर में डाला जाता है। यह रस्म सभी रिश्तेदारों द्वारा अदा की जाती है। सबसे पहले लड़का/लड़की के माता–पिता इस रस्म को पूरा करते हैं वे हाथ में थोड़ा सा दही लेकर लड़का/लड़की के सिर में डालते हैं।

पाट उतारनो–झोल की रस्म के बाद लड़का नहाने चला जाता है। नहाने के बाद लड़के का मामा लड़के को नेग देकर गोद में उठाकर आँगन में लेकर आता है।

बीन बणाणो–लड़के के जीजा उसके सेहरा सजाते हैं।

भाभी काजल डालती है। पंडित सारे विधि-विधान करवाता है। दूल्हा अपने बड़ों का आशीर्वाद लेता है। दूल्हे की माता द्वार से उसको अपना दूध पिलाकर रवाना करती है।उसके पश्चात् दूल्हा घर से निकासी की रस्म के लिए जाता है।

निकासी-दूल्हा घर से रवाना होकर अपने किसी रिश्तेदार के घर निकासी के लिए रवाना होता है। जिस घर में उसकी निकासी होती है वहां उसे दूध का गिलास पिलाया जाता है व नेग दिया जाता है।

बार रूकाई-निकासी के बाद बारात की रवानगी के समय दूल्हे की बहनें उससे रास्ते को रोककर खड़ी हो जाती है। तब दूल्हा अपनी बहन को बार रूकाई का नेग देकर रवाना होता है।

बारात रवानगी-दूल्हा सब रस्मों के पश्चात् रवाना होता है। उसके साथ ही सारे रिश्तेदार रवाना होते हैं। ढोल व गाजे-बाजे से बारात रवाना होती है, ऐसे ही नाचते गाते बारात लड़की के घर तक पहुँचती है।

समेलौ-बारातियों को बागड़ी में जानी कहा जाता है। जहां इनका ठहरने का प्रबंध किया जाता है उसे जणवासा कहते हैं। लड़की वाले अपने द्वार पर बारातियों का स्वागत करते हैं व उनको आदर सहित जणवासे में ले जाते हैं।

तोरण/ढुकाव-तोरण शादी वाले दिन सुथार द्वारा लड़की के घर के मुख्य द्वार पर बांधा जाता है। दूल्हा तोरण को छूने के लिए मुख्य द्वार पर आता है तो लड़की की माता उसके तिलक लगाती है और दूल्हा अपनी तलवार से तोरण को छूता है। इस समय स्त्रियाँ मांगलिक गीत गाती है—

तोरण आयो रायवर थरै थरै कांपयो राज
बूझो सरदार बनअ नअ कामण ढिला छोड़ो ओ राज॥
(बागड़ी गीत मंजरी, पृ. 70)

दही देणो व्र आरतो-तोरण की रस्म के साथ ही दही देने की रस्म की जाती है इसमें दूल्हे की सास दूल्हे के ललाट पर दही लगाती है। भाभी दूल्हे के कान के पास डिबिया में दाने डालकर छनकाती है और साथ ही साथ शीशे में मुँह दिखाती है। दूल्हे की सास बेसन के आटे से बने एक विशेष प्रकार के थाल में दीया जलाकर आरती उतारती है। दूल्हे की साली दूल्हे की कमर में दुपट्टा डालकर उसका दायां पैर आगे की तरफ रखवाती है व नेग लेती है। इन रस्मों के पश्चात् दूल्हा जणवासे की तरफ चला जाता है।

बन्नी की पीठी उतारनी-बारात के पहुँचने के पश्चात् लड़की की पीठी उतारी जाती है। उसे केश धुलवाकर स्नान कराया जाता है व खुले केशों को बांधकर चंवरी पर ले जाया जाता है। चंवरी तक ले जाने के लिए उसका मामा उसे नेग देकर पाट से उतारता है।

मांडो रोपणो-शादी वाले दिन लड़की के घर में मांडो रोपने का रिवाज है। मांडा सुथार बनाकर लाता है। यह लकड़ी का बना होता है।

चंवरी-विवाह की सबसे अहम रस्म अग्नि को साक्षी मानकर सात फेरे लेना माना जाता है। चंवरी में दूल्हा-दूल्हन के साथ दूल्हन के माता-पिता बैठते हैं। पंडित चंवरी पर हवन करते हुए मंत्रोच्चारण करता है व दूल्हा-दूल्हन के फेरे संपन्न करवाता है। बागड़ी समुदाय में चार फेरों का रिवाज है, तीन फेरों में दूल्हन आगे रहती है व चौथे फेरे में दूल्हा आगे रहता है।

चंवरी में दूल्हन का मामा अथवा भाई सेवरा देता है। सेवरा एक प्रक्रिया है इसमें दूल्हन का मामा अथवा भाई अपने साफे का एक लड़ खोलकर उससे घी से भरी डोई (लकड़ी की चम्मच) पकड़कर अग्नि में घी अर्पित करता है व इसके पश्चात् उस डोई को बाहर बैठे शूद्र व्यक्ति को नेग के साथ दे आता है, इसे सेवरा देने की रस्म कहते हैं।

कन्यादान-चंवरी पर ही कन्यादान की रस्म अदा की जाती है। कन्यादान में दूल्हन के माता-पिता नेग के साथ अपनी लड़की का हाथ दूल्हे के हाथ में सौंपते है। कन्यादान के समय

बागड़ी बोली मूलत: राजस्थानी, हरियाणवी और पंजाबी भाषाओं का मिश्रित रूप है। इस का भौगोलिक विस्तार राजस्थान के श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़ जिलों तथा बीकानेर तथा चुरू के कुछ इलाकों तक है। पंजाब में इसका विस्तार फाजिल्का तथा फिरोजपुर जिलों के अतिरिक्त मुक्तसर तथा बठिण्डा जिलों के ग्रामीण अंचलों तक है। हरियाणा में इसका विस्तार सिरसा तथा फतेहाबाद जिलों के अतिरिक्त हिसार के कुछ अंचलों तक है। बागड़ी बोली मारवाड़ी की एक उपबोली मानी जाती है जिसमें हरियाणवी और मलवई पंजाबी के शब्दों का प्रभाव होने के कारण एक नवीन बोली का विकास हुआ। बागड़ी बोली के कारण यहां के लोगों को बागड़ी कहा जाता है।आर्य मूल की यह प्रजाति आरंभ में एक कबिलाई व्यवस्था थी परंतु धीरे धीरे इसमें परिवर्तन आया। परंतु आज भी यह अपने ग्रामीण स्वरूप को बनाए हुए है।

दूल्हन के रिश्तेदार नेग देते हैं यह नेग लड़की का होता है।

सुमटणी–फेरों की रस्म के पश्चात् सुमटणी की रस्म की जाती है। इसमें लड़की को दिया जाने वाला सामान गिनाया जाता है व आये हुये बारातियों को भेंटस्वरूप पैसे दिये जाते हैं। दूल्हा–दूल्हन के मामा से मामा, नाना से नाना, दादा से दादा आपस में गले मिलते हैं व एक–दूसरे को मिठाई खिलाते हैं।(राजस्थानी संस्कृति री ओलखाण, पृ.113)

कंवर कलेवो–फेरों की रस्म के पश्चात् दामाद को आँगन में बिठाकर भोजन कराया जाता है इसे कंवर कलैवा कहते हैं। इसे कुंवारे का भोजन कहा जाता है। इसमें दूल्हे के साले दूल्हे को भोजन करवाते हैं।

देवतां ग धोक–दूल्हा व दूल्हन गठजोड़े के साथ दूल्हन के घर के सभी देवताओं की धोक देते हैं व प्रसाद चढाते हैं।

जुआरी–लड़की के परिवार की सभी स्त्रियाँ दूल्हे को तिलक करके भेंट स्वरूप कपड़े, पैसे आदि देती है, इसे जुआरी की रस्म कहा जाता है।

थली पूजन–विदाई से पहले लड़की अपने घर की थली (दहलीज) का पूजन करती है। दहलीज में थोड़ा सा गाय का गोबर रखकर उसके पास सांथिया बनाकर उसपर तिलक किया जाता है व गुड़ चढाया जाता है।

विदाई–बारात की वापसी के समय यह रस्म होती है। इसमें दूल्हन अपने दादा–दादी, माता–पिता बहन–भाई व अन्य रिश्तेदारों के गले मिलकर रोती है व सब रिश्तेदार उसके सिर पर हाथ फेरकर उसे आशीर्वाद देते हैं।

बिनणी बधारनी–दूल्हा अपने घर दूल्हन लेकर आता है तो बहू का स्वागत उसकी सास करती है बागड़ी में इसे बिनणी बधारना कहा जाता है। दूल्हन को डोली से उतारने से पहले दूल्हे के जीजा नेग लेते हैं। उसके पश्चात् दुल्हन की सास उसे उतारती है। वह दूल्हा–दूल्हन के तिलक लगाकर उनका स्वागत करती है व दूल्हन का गृह प्रवेश करवाती है।

थाल चुगाणा–घर के द्वार पर सात थालियां एक कतार बनाकर रख दी जाती है। दूल्हा उन थालियों को अपनी तलवार से इधर–उधर करता जाता है और दुल्हन उन को समेटती जाती है। सभी थालियों को इकट्ठा करने के पश्चात् दुल्हन को नेग दिया जाता है।

जुओ खिलाणो–शादी की अगली सुबह दूल्हा–दूल्हन को जुआ खिलाया जाता है। इसमें दूल्हा–दुल्हन व पैरों में बंधे डोरों (धागों) को खोला जाता है। एक बड़े बर्तन में गाय का कच्चा दूध व पानी डालकर उसमें इन डोरों को भिगोया जाता है व साथ ही एक अंगूठी डाल दी जाती है। सात बार उन्हें पानी में घुमाकर फेंका जाता है और दूल्हा–दुल्हन को अंगूठी ढूंढने को कहा जाता है। सातवीं बार अंगूठी जिसके हाथ आती है, उसी को विजेता माना जाता है। ऐसे ही सात–सात बार रूई के फाहे इकट्ठे करवाये जाते हैं। एक दूसरे को छड़ी मारने की रस्म करवाई जाती है। इन सब का तर्क यह दिखाना है कि गृहस्थी को चलाने में दोनों की ही भागीदारी अहम है।

पगां लगाई–दूल्हा–दुल्हन सभी देवताओं के देवस्थानों पर जाकर माथा टेकते हैं। उसके पश्चात् अपने घर के बुजुर्गों के पैर छूते हैं। दुल्हन सभी को पगां लगाई का नेग देती है और बदले में बुजुर्ग भी नई दुल्हन को नेग देते हैं।

कोथली बांधणी–विवाह की सभी रस्में पूरी होने के पश्चात् सभी आये हुये रिश्तेदारों को कपड़े, मिठाई व पैसे देकर उन्हें विदा किया जाता है। जो मिठाई उन्हें दी जाती है उसे कोथली कहा जाता है। इस प्रकार विवाह संपन्न होने के पश्चात् सभी रिश्तेदार खुशी–खुशी विदा होते हैं।

मृत्यु संबंधी रस्में

दाह संस्कार–बागड़ी समाज में मुर्दे का दाह संस्कार किया जाता है। दाह संस्कार के समय लकड़ियों में घी डाला जाता है। मुर्दे की शव यात्रा में मुर्दे का दामाद शामिल नहीं होता। स्त्रियों को दाह संस्कार में जाने की अनुमति नहीं है। वो केवल आधे रास्ते तक ही शवयात्रा में शामिल होती है।

मुर्दे को कंधा देने वालों को 'कांधिया' कहा जाता है। दाह संस्कार के पश्चात् कांधिये स्नान करके सफेद चावलों को सेवन करते हैं। ये चावल केवल उन्हीं के लिए बनाये जाते हैं। किसी और को उनका सेवन करने की अनुमति नहीं होती ।

बागड़ी समाज में शमशान भूमि भी जातीयता के आधार पर बनी होती है। हर जाति के लोग अपनी–अपनी शमशान भूमि में ही दाह संस्कार करते हैं।

पंथवारी सिंचणी–बागड़ी समाज में जहां मुर्दे का संस्कार किया जाता है। वहां उसके सिर की तरफ एक लकड़ी के सांचे पर एक मटका रखा जाता है। उस मटके में मुर्दे की अस्थियां समेटने तक पानी भरा जाता है। मुर्दे का पुत्र अथवा पौत्र हर रोज उस मटके में पानी भरने जाते हैं । इसे पंथवारी सींचणा कहा जाता है।

फूल चुगणा–दाह संस्कार के तीन दिन बाद मुर्दे की अस्थियों को समेटने के लिए पंडित के साथ मुर्दे का पुत्र जाता है। अस्थियों को समेटकर उन्हें के कपड़े में बांधकर घर पर

लाया जाता है। उन अस्थियों को घर लाकर कच्चे दूध से धोया जाता है। कच्चे दूध से धोकर उनको किसी कील पर टांगा जाता है क्योंकि अस्थियों को नीचे जमीन पर रखा जाता ।

फूल घालणा–बागड़ी समाज के लोग मुर्दे की अस्थियां हरिद्वार जाकर गंगा में विसर्जित करते हैं। वहां जाकर अस्थियों को विसर्जन करने के लिए अपने कुल के पंडितों के पास जाते हैं। वे अपने पंडित की बही में मृत्यु हुई व्यक्ति का नाम, अस्थियां विसर्जन के लिए आए व्यक्ति का नाम व दान में दी गई वस्तु का पूरा ब्यौरा दर्ज करवाते हैं। इनकी ख़ास बात यह है कि इन कुल के पंडितों के पास मृत्यु हुई व्यक्ति के पूरे खानदान के मृत व्यक्तियों का व उनकी अस्थियों का विसर्जन करने आए व्यक्तियों का पूरा ब्यौरा दर्ज होता है। इन कुल के पंडितों द्वारा दर्ज ब्यौरे को कानूनी तौर भी मान्यता प्राप्त होती है।

मोखाण–बागड़ी समाज में मृत्यु हुई व्यक्ति के घर सांत्वना देने आए लोग बारह दिन तक आते रहते हैं, इसे ही मोखाण जाना कहा जाता है।

चिट्ठी पाड़नी–जिस व्यक्ति की मृत्यु होती है उसका बारहवां दिन सुनिश्चित करके पंडित उसके नाम की चिट्ठी फाड़ देता है। यानी मृत्यु हुए व्यक्ति का नाम, मृत्यु का दिन व बारहवें दिन की तिथि लिखकर सबको सुनाकर उस चिट्ठी को फाड़ देता है। इसके पश्चात् सब सगे-संबंधियों को बारहवें की तारीख संबंधी चिट्ठी भेज दी जाती है।

बागड़ी समाज में जिस भी घर में मुर्दे की चिट्ठी जाती है। उस घर के लोग चिट्ठी को घर की दहलीज में ही पढ़ कर बाहर ही फाड़ कर फेंक देते हैं। वे मुर्दे की चिट्ठी घर में लाना अपशगुन मानते हैं।

मेल/बारहवां–जिस दिन बारहवें का दिन सुनिश्चित होता है उस दिन सभी सगे संबंधी इकट्ठा होते हैं। इस दिन उनके लिए भोज का प्रबंध बोला जाता है। यह भोज एक प्रकार से मुर्दे के पीछे किया जाने वाला पुण्य कर्म समझा जाता है।

जगह बदलाणी–जिस स्त्री के पति की मृत्यु होती है, उसे बारह दिन बाद उसके भाई अपने घर ले जाते हैं। ताकि शोक संलिप्त वातावरण से उसे थोड़ा अलग ले जाकर उसके दुख को कम किया जाए। इसी प्रकार उस घर की बहुओं को भी उसने मायके वाले अपने घर ले जाकर उन्हें नए कपड़े, नई चूड़ियां आदि पहनाते हैं। इसका अर्थ कि वे अब अपने शोक से बाहर आकर फिर से दैनिक जीवन की ओर उन्मुख हो।

हर गो न्हाण–मृत व्यक्ति की विधवा को गंगा स्नान के लिए ले जाया जाता है। साथ ही साथ घर की बेटियों व पोतियों को भी गंगा स्नान करवाना पुण्य का काम समझा जाता है।

अत: निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि बागड़ी समाज में विद्यमान यह रीति-रिवाज वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित हैं तथा समयानुसार इनमें परिवर्तन भी दिखाई पड़ता रहा है। आज भी इस समाज में ये रीति-रिवाज प्रचलित हैं जो इस समाज की विशिष्ट पहचान के द्योतक हैं।

पुस्तक सूची:

1. सालवी, सुरेश, राजस्थानी लोक संस्कृति एवं लोक देवी-देवता, उदयपुर: हिमांशु पब्लिकेशंस, 2009
2. सेन, राजेन्द्र कुमार, बागड़ी गीत मंजरी, पटियाला: टवेन्टी फर्स्ट सेन्चुरी पब्लिकेशंस, 2008
3. उज्ज्वल, अर्जुनसिंह, राजस्थानी संस्कृति री ओलखाण, जोधपुर: राजस्थानी ग्रन्थागार, 2013
4. राजगढ़िया, चम्पादेवी, जन्म से विवाह का नेगचार, कलकत्ता
5. जोशी, जीतसिंह, सभ्याचार अते लोकधारा दे मूल सरोकार, दिल्ली: आर. के. ऑफसेट, 2004, 2010, 2014. (पंजाबी)
6. सत्य, सत्यनारायण, धन-धन म्हारो राजस्थान, जयपुर: बोधि प्रकाशन
7. परिहार, जगमोहनसिंह, राजस्थानी भाशा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, जोधपुर: मीनाक्षी प्रकाशन, 1987
8. उनियाल, राजेश्वर, हिंदी लोक साहित्य का प्रबंधन, दिल्ली: कल्पना प्रकाशन, 2014
9. रामविलास, हरियाणवी, दिल्ली: साहित्य अकादेमी, 2012
10. ललवाणी, जेठो, सिंधी-कच्छी लोक संस्कृति परम्परा, दिल्ली: के, के. पब्लिकेशन्स, 2012

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

शृंखला की कड़ियाँ : स्त्री–मुक्ति का दस्तावेज

शुभम यादव*

दुनिया के इतिहास मे देखें तो एक विशेष बात यह दिखायी देती है कि स्त्रियों के बारे में अधिकांश नियम–कानून पुरुषों के द्वारा ही बनाये गये हैं, जबकि सामाजिक निर्माण की भूमिका में पूरी सक्रिय भागीदारी के बावजूद वे निर्णय लेने से दूर रही व दोयम दर्जे की नागरिक बनी रही। भारतीय मूल में ये चीजें गहरी समायी हुयी हैं। पुरुष ने स्त्री को रमणी, वामा, देवी (सरस्वती, दुर्गा,लक्ष्मी–पार्वती....) माना है पर उसे कभी स्वतंत्र मुनष्य मानकर फलने–फूलने नहीं दिया बल्कि ऐसा अगर हुआ तो उसके साथ पौराणिक मान्यतायें जोड़ दैवीय घटना सिद्ध करने की कोशिश की। राजेन्द्र यादव ने भारतीय समाज की स्त्रियों के बारे में लिखा है कि–''मूलत: इस समाज में स्त्री की न अपनी कोई जाति है, न नाम और न अपनी इच्छा, हर जाति या नस्ल ने एक दूसरे की स्त्रियों को लूटा है। छीना या अपनाया है। वह आजन्म किसी की बेटी किसी की पत्नी और किसी की माँ के रूप में जानी जाती है उसी से उसके पद और प्रतिष्ठा बनते है। यहाँ तक कि पर्दे के नाम पर उसका चेहरा भी उससे छीन लिया गया है। वह सिर्फ़ एक बेनाम, बेचेहरा और बेपहचान औरत है।''[1]

पुरुष सत्ता ने भारतीय समाज का निर्माण इसी तरह किया है। औरतों के बारे में नीत्शे का यह वाक्य कैसे भूला जा सकता है –''औरत की हर चीज एक गुत्थी और पहेली है, औरत के सौ मर्जों का सिर्फ़ एक ही इलाज है और वह है उसे गर्भवती कर डालना।''[2] अभी भी पुरुष वर्ग औरत को रहस्य के रूप में ही देखता है। असल में वह औरत के शरीर को दो भागों में देखता है— देवी और कामकन्दरा के रूप में। इसलिए आज तक उसके बारे में पुरुष का भ्रम बना हुआ है, भ्रम क्या वो उसके लिए अब सार्वभौम सत्य बन चुका है, क्योंकि इसकी पुष्टि करने के लिए पुरुषों के पास उनके ही द्वारा बनायी गयी अचारसंहितायें, वेद, पुराण, स्मृतियां नीतियाँ इत्यादि हैं, जिसकी बदौलत वह अपनी बातों को पुष्ट करता हुआ आज तक का सफर तय कर लिया है, स्त्री के पास क्या है सिवाय सुनने और मानने के। परन्तु समाज में परस्पर विरोधी शक्तियाँ होती है। अगर न हो तो सामाजिक गति रूक जायेगी, तो स्वाभाविक है कि कुछ पुरुष सत्ता का विद्रोह करने वाली स्त्रियाँ समाज में रही हैं उसी विद्रोह के डर से पुरुषों ने इतने नियम बना डाले। नवजागरण के साथ स्त्री भी कुछ नये रूप में सामने आयी। उसने अपने अधिकारों की बात की व स्त्री जागरूकता का अभियान चलाया। इनमें सावित्रीबाई फूले, क्रांतिकारी महिला ताराबाई शिन्दे, सीमंतनी उपदेश की अज्ञात महिला लेखिका आदि रहीं हैं। इसी नवजागरण की पृष्ठभूमि की उपज हैं विद्रोही कवियत्री–लेखिका महादेवी वर्मा। हमनें उनकी तुलना मीरा से की लेकिन दु:ख और विरह की मीरा तक ही उन्हें समेट दिया। हमनें उन्हें कभी विद्रोहिणी मीरा के रूप में देखा ही नहीं क्योंकि हमनें सदियों से ये मान लिया है कि स्त्री चिन्तन नहीं कर सकती। इसलिए हमने उसे उपेक्षित ही रखा, लेकिन ''शृंखला की कड़ियाँ की लेखिका भारतीय स्त्री समुदाय की आवयविक बुद्धिजीवी के रूप में हमारे सामने आती हैं।उसके विचारों के निर्माण में भारतीय स्त्री समुदाय के अतीत और वर्तमान स्त्री–जीवन की कठोर वास्तविकताओं के गंभीर ज्ञान, जटिल स्थितियों की अचूक पहचान और लेखिका के अपने व्यापक जीवनानुभवों की महश्त्वपूर्ण भूमिका है। साथ ही उसमें भारतीय स्त्री की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पराधीनता से मुक्ति की गहरी चिंता है।''[3]

महादेवी ने स्त्री को उसकी शक्ति का एहसास कराने

शोध छात्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मोबाइल : 9473930135

का कार्य किया, उन्हें यह पता था कि अधिकार माँगे नहीं छीने जाते हैं, वे जानती हैं कि स्वाधीनता याचना और भिक्षाटन से नहीं प्राप्त होगी। वे लिखती हैं कि-''भारतीय नारी भी जिस दिन अपने सम्पूर्ण प्राणवेग से जाग सके उस दिन उसकी गति रोकना किसी के लिए संभव नहीं। उसके अधिकारों के संबंध में यह सत्य है कि-वे भिक्षावृति से न मिले है न मिलेगें क्योंकि उनकी स्थिति आदान-प्रदान योग्य वस्तुओं से भिन्न है।''[4] महादेवी ने स्त्रियों के चिंतन को व साथ ही साथ पुरुष की सोच को भी उद्घाटित करने का प्रयास किया है, शृंखला की कड़ियाँ में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद का उद्धरण देखने लायक है। याज्ञवल्क्य अपनी विदुषी सहधर्मिणी मैत्रेयी को सब कुछ देकर वन जाने को प्रस्तुत होते हैं। परन्तु पत्नी वैभव का उपहास करती हुयी पूछती है—''यदि ऐश्वर्य से भरी सारी पृथ्वी मुझे मिल जाय तो क्या मैं अमर हो सकूंगी''[5] याज्ञवल्क्य के लिए भौतिक सम्पत्ति ही सब कुछ है, परन्तु मैत्रेयी जीवन के प्रति कितनी गम्भीर है, उसकी बातें विचारने योग्य हैं। इसी तरह महादेवी ने सीता, यशोधरा व महाभारत काल की तमाम स्त्रियों को केन्द्र में रखा है। महादेवी स्त्रियों को अंधानुसरण न करने के लिए सचेत करती हैं और बताती हैं कि-'दर्पण की उपयोगिता तभी तक रहती है जब तक वह दूसरी आकृति को प्रतिबिम्बित करता है।''[6] अर्थात अनुकरण या कहे कि विवेकहीन अनुकरण की प्रक्रिया ने स्त्री के व्यक्तित्व को समाप्त कर दिया है।

राजेन्द्र यादव ने भारतीय समाज की स्त्रियों के बारे में लिखा है कि-''मूलतः इस समाज में स्त्री की न अपनी कोई जाति है, न नाम और न अपनी इच्छा, हर जाति या नस्ल ने एक दूसरे की स्त्रियों को लूटा है। छीना या अपनाया है। वह आजन्म किसी की बेटी किसी की पत्नी और किसी की माँ के रूप में जानी जाती है उसी से उसके पद और प्रतिष्ठा बनते है। यहाँ तक कि पर्दे के नाम पर उसका चेहरा भी उससे छीन लिया गया है। वह सिर्फ़ एक बेनाम, बेचेहरा और बेपहचान औरत है।''

पुरुष सत्ता ने भारतीय समाज का निर्माण इसी तरह किया है। औरतों के बारे में नीत्शे का यह वाक्य कैसे भूला जा सकता है -''औरत की हर चीज एक गुत्थी और पहेली है, औरत के सौ मर्जों का सिर्फ़ एक ही इलाज है और वह है उसे गर्भवती कर डालना।''

'युद्ध और नारी' में वे स्त्री के गृह परिवेश, साथ ही साथ युद्ध व सैनिक की दृष्टि में स्त्री की भूमिका क्या है, पर विचार करती हैं। महादेवी को लगता है कि स्त्रियों ने अपने को घरों मे कैद कर लिया है। घर उसके लिए जीवन है, उसके लिए गृह का उजड़ना सम्पूर्ण सुख का उजड़ना है पर पुरुष के लिए नहीं। स्त्रियों के जीवन से घर किसी प्रकार भिन्न नहीं, युद्ध स्त्रियों के विकास में भी बाधक है। युद्ध में जाने वाला व्यक्ति जिसके जीवन में कल की आशा नहीं जो मरने या मारने पर ही खड़ा है उसके लिए स्त्री का क्या महत्त्व है। वह सिर्फ़ और सिर्फ़ स्त्री को एक भोग के नजरिये से ही देखेगा।

'नारीत्व और अभिशाप' में महादेवी हिन्दू पितृसत्ता व वर्चस्ववादी सत्ता पर लिखती हैं कि- ''अपने पितृगृह में उसे वैसा ही स्थान मिलता है जैसा किसी दुकान में उस वस्तु को प्राप्त होता है। जिसके रखने और बेचने दोनों ही में दुकानदार को हानि की सम्भावना रहती है।''[7] सामंती समाज स्त्रियों को वस्तु से अधिक मान्यता नहीं दे सका है। उसकी सोच स्त्री के शरीर के इर्द-गिर्द अभी भी घूम रही है। वे रूढ़िवादी के समर्थकों, धर्मों के ठेकेदारों जो नये परिवर्तन को धर्म और समाज के लिए घातक समझ लेते हैं, उन्हें स्त्री की इस दशा का सबसे बड़ा कारण मानती हैं। स्त्रियों के सदियों से होने वाले दलन को केन्द्र में रखकर वो लिखती हैं कि-''युगों की कठोर यातना और निर्मम दासत्व ने स्त्रियों को अपनापन भी भूला देने पर विवश न किया होता तो क्या आज ये अपने सम्मान की रक्षा में समर्थ न हो सकती थीं।''[8] ये लाइनें उन वाहियात तर्कधारियों के ऊपर चाटा हैं जो बार-बार ये कहते फिरते हैं कि क्यों स्त्री स्वतन्त्र हो जाती ? स्वयं सुरक्षा क्यों नहीं करती ? उसे कौन रोक रखा है ? दरअसल सदियों से हमने स्त्री को एक पशु की तरह बना कर रखा है और रखना चाहते हैं और ऐसे तर्क देते फिरते हैं क्योंकि पिछले कारनामों की लिस्ट हमारी शोषक की रही है, और ऐसे तर्कों से यह जताने की कोशिश करते हैं कि तुम कभी भी अपनी सुरक्षा के लिए सक्षम नहीं हो। इसलिए जहाँ हो वहीं चुपचाप पड़ी रहो।

महादेवी पुरुषों की उस सामंती सोच को उद्घाटित करने का प्रयास करती हैं जो स्त्री को पत्नी व देवी बनाकर रखना चाहती है। वह मात्र और मात्र उसे शोभा की वस्तु के रूप में देखना चाहती है, लेकिन आज की स्त्री अपने प्रति सचेत हो रही है। इसलिए वह सदियों की उस चली आती हुई सोच को बदलने का आग्रह करती हैं। जो स्त्री को सिर्फ़ और सिर्फ़ पत्नी, माता तक सीमित करती है, ''वास्तव में स्त्री केवल पत्नी

के रूप में समाज का अंग नहीं अत: उसे उसके भिन्न-भिन्न रूपों में व्यापक तथा सामान्य गुणों द्वारा ही समझना समाज के लिए आवश्यक तथा उचित है।''[9]

उन्होंने आज के उन पारिवारिक सम्बन्धों के बीच पैदा हुए मानसिक विकार पर भी विचार किया है—''एक संकीर्ण सीमा में निकट रहते हुए भी पिता-पुत्री, भाई-बहिन अपने चारों ओर मिथ्या संकोच की ऐसी दृढ़ भित्ति खड़ी कर लेते हैं जिसे पार कर दूसरे के निकट पहुँच पाना, उनकी विभिन्नतामयी प्रकृति को समझ लेना असम्भव हो जाता है।''[10] महादेवी वर्मा जिस स्त्री मुक्ति की बात करती हैं वो आज के स्त्री विमर्श से लगभग अलग है। महादेवी स्त्री अधिकार को प्राप्त करने व पुरुष के साथ मिलकर समाज निर्माण की बात करती है वही आज का स्त्री विमर्श देह व यौन शुचिता पर केन्द्रित हो गया है, वह बिना परस्पर सहयोग के भी समाज निर्माण का सपना देखने लगा है, वे स्त्री को आकर्षण केन्द्र न बनने देना चाहती हैं।'' वह जीवन की गम्भीरता से दूर उच्छृंखल तितली के रूप में घर से बाहर आती है और प्राय: दूसरों के आकर्षण का केन्द्र बनना बुरा नहीं समझती।''[11] इसके साथ वे सचेत करती हैं कि स्त्रियाँ संसार के सभी पुरुषों को एक ही दृष्टि से न देखे व एक ही धारणा न बना लें कि पुरुष उन्हें कुदृष्टि से देखते हैं। वे स्त्री को स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में देखने का आग्रह करती हैं तथा पुरुष को कुछ क्षेत्रों में स्वतंत्रता देने की मांग करती है'' उसे आने जाने की, अन्य व्यक्तियों से मिलने जुलने की तथा उसी क्षेत्र में कार्य करने वालों से सहयोग लेने-देने की आवश्यकताएँ प्राय: पड़ती रहेंगी। ऐसी दशा में पुरुष यदि उदार न हुआ और प्रत्येक कार्य को उसने संकीर्ण संदिग्ध दृष्टि से देखा तो जीवन असहाय हो उठेगा।''[12]

इतिहास निरन्तर विकसित होता रहता है, उसकी गति सदैव आगे की तरफ होती है, स्त्री की सामाजिक स्थिति भी इसी तरह है वह बद से बदतर होती जा रही है, कब उसमें सुधार होगा, होगा या नहीं होगा पता नहीं। आज भी कन्या जन्म को लेकर समाज में हाहाकार मचा हुआ है। पुरुषसत्तात्मक समाज वासनाओं की पूर्ति के लिए स्त्री की उपयोगिता को समझ लेता है पर पुत्री की भूमिका उसे रास नहीं आ रही, वह उसके प्रति शून्यचेता है। स्त्री के साथ एक बड़ी वसूली कर पति बनने का सुख पुरुष प्राप्त करने के लिए हमेशा तैयार रहता है पर पुत्री प्राप्त करने के लिए नहीं। हम स्त्रियों के प्रति शिक्षा को लेकर उदासीन है हमने पुरुषों को पारंपरिक व आधुनिक सभी तरीकों से शिक्षा प्रदान किया है स्त्रियों को नहीं। इन सब को समाप्त कर नये समाज को निर्मित कर देने में सिर्फ़ शिक्षा ही कारगर हो सकती है और कुछ नहीं, शायद यही विचार महादेवी भी कर रही थीं।

संदर्भ सूची

1. राजेन्द्र यादव : 'आदमी की निगाह में औरत', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 227
2. वही, पृ. 227
3. साखी, अंक-24, सम्पादक-सदानन्द शाही (163-164)।
4. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ' लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.-97
5. वही, पृ. 12
6. वही, पृ. 15
7. वही, पृ. 38
8. वही, पृ. 41
9. वही, पृ. 121
10. वही, पृ. 124
11. वही, पृ. 126
12. वही, पृ. 174

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

समकालीन हिंदी कविता की भाषा संरचना

ज्योति यादव*

भाषा मानव भावाभिव्यक्ति का सर्वप्रमुख साधन है, भाषा ही उसके समस्त व्यापारों की नींव है, जिसके बिना मनुष्य के जीवन का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। भाषा की प्राचीनता सम्भवत: मानव अस्तित्व की कल्पना के समय से ही कल्पित की जा सकती है, क्योंकि अपने भावों की अभिव्यक्ति मनुष्य भाषा के माध्यम से ही करता रहा होगा। कवि अपने आशय के उद्घाटन के लिए किसी भी शब्द का प्रयोग करता है। काव्य भाषा कवि की अनुभूति उसके भाव तथा उसकी संवेदना को ध्वनित करती है। समकालीन हिंदी कविता के कवियों ने भाषा को काव्य की स्थिति के अनुरूप पूरी तरह से परिवर्तित किया। समकालीन कवियों ने बदलते परिवेश और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुरूप अपनी काव्य भाषा को बनाने का भरपूर प्रयास किया है। अत: नए–नए शब्द, शब्दों के नए संदर्भ में प्रयोग, मुहावरे तथा शब्दों के नए संस्कार ने प्रचलित अर्थ से अधिक अर्थ भरने की लालसा को जन्म दिया। फलत: कवियों ने परम्परागत भाषाई नियमों को तोड़कर समकालीन हिंदी कविता की भाषा संरचना में अधिक अर्थवत्ता भर दी है।

समकालीन कविता ने नए अर्थ सौन्दर्य का विधान तो किया ही है साथ ही कविता की शक्ति को भी बढ़ाया है। आम आदमी तक पहुँचने वाली भाषा का मुहावरा समकालीन कविता ने रचा है। यह कविता उस बयान का सबूत है जहाँ जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएँ पहले हैं और अस्त्र–शस्त्र के जखीरे बाद में। वहाँ मानवीय करुणा और बच्चों के भविष्य के प्रति सही नजर है—

''इसलिए लोगों
मेरी कविता
हर उस इंसान
का बयान है
जो बन्दूकों के गोदाम से
अनाज की ख्वाहिश रखता है
मेरी कविता हर उस इंसान का बयान है
जिसमें आँसू है।''[1]

समकालीन हिंदी कविता की भाषा बोलचाल की भाषा है, किन्तु वह केवल बोलचाल की भाषा ही नहीं है यह अपने सहजपन में यथार्थ के उलझाव भरे ताने–बाने को आम आदमी के कटु, तिक्त अनुभवों को पूरी शक्ति के साथ अभिव्यक्त करने वाली है। समकालीन कविता के विस्तृत परिदृश्य में वस्तुरूप और भाषा शैली सम्बन्धों को समाज–सापेक्ष सन्दर्भों में परखा जाना उचित होगा, क्योंकि इनका संबंध सामाजिक विकास की परिस्थितियों, अन्तर्जटिलताओं और अभिव्यक्तियों के सह–सम्बन्धों पर आधारित होता है। रामविलास शर्मा का भी विचार रहा है कि– ''साहित्य का शिल्प उसके विभिन्न रूप सामाजिक विकास से ही संभव हुए हैं ये उस पर बहुत कुछ निर्भर होते हैं।''[2] अत: समकालीन कविता ने ऐसी भाषा की खोज की जो भारतीय समाज के विकास के रास्तों में आने वाले खतरों से साधारण जन को आगाह करती रह सके। नागार्जुन ने इन्हीं सामाजिक सरोकारों से जुड़ी कविता 'लू–शुन' में लिखा है—

''कमल से काम लो गदा का, तमंचा का
ढीला न पड़े डोर प्रत्यंचा का
जहरीले साँपों पर दया नहीं करना
भलमनसाहत में जान से हाथ मत धोना
इस तरह श्रमशील जनों को दे गये हो सीख

शोधार्थी, रानी दुर्गावती वि.वि. जबलपुर, म.प्र.

क्यों कोई मांगे प्रभुओं से भद्रता की भीख।''[3]

समकालीन हिंदी कविता में संवेदनात्मक स्तर पर गहरा चौकन्नापन दिखाई देता है और यह गहरे चिंतन को अपने में समाहित किए हुए है। आंचलिक शब्दावली का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है। त्रिलोचन शास्त्री जी की कविता 'ललक' में आंचलिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है—

''हाथ मैंने
ऊँचाए हैं
उन फलों के लिए
जिनको
बड़े हाथों की प्रतीक्षा है।
फलों को
मैं देखता हूँ
चीन्हता हूँ
और उनके लिए मुझमें 'ललक' भी है।''[4]

लोकानुभव जब बोल-चाल की भाषा में रचा जाता है तब कितनी सहजता से सम्प्रेषणीय होता है, समकालीन कविता ने इसे सिद्ध कर दिया है। ये कविताएँ जीवन के मूल सरोकारों से जुड़ने की प्रक्रिया में अपनी सशक्त भाषा के साथ उपस्थित होकर सामाजिक विकृतियों को तथा समाज के यथार्थ स्वरूप को व्यक्त करने में सफलता प्राप्त कर रही हैं। समकालीन कविता की भाषा तीक्ष्ण व्यंग्य प्रधान बनी हुई है। इस व्यंग्यात्मकता की बानगी नागार्जुन की कविता 'नर्सरीराईम' में देखी जा सकती है—

''अन्दर बाहर धींगामुश्ती
परमारथ में भारी सुस्ती
स्वास्थ्य में तो बेहद चुस्ती
एक दूसरे की जड़ काटें
तकरीरों से अग-जग पाटें।''[5]

भाषा का अधिक से अधिक सर्जनात्मक प्रयोग समकालीन कवियों की विशेषता रही है। भाषा जितनी सृजनात्मक होती है कलाकृति अर्थात् रचना उतनी ही विशुद्ध और प्रामाणिक बन जाती है। समकालीन कविता के सभी कवियों ने अपने-अपने अनुसार भाषा प्रयोग की है। सभी कवियों में भाषा की नयी खोज, वस्तु और भाषा में नए संबंध पर बल देने का आग्रह दिखाई देता है। बोलचाल की भाषा में यथार्थ को सीधे सम्प्रेषित करने का प्रयत्न भी। समाज की चुनौतियों से उपजी बौद्धिक चिन्ताओं का सृजनशीलता से सीधा रिश्ता कायम किया है। समकालीन कवि सामाजिक भाषा को वैयक्तिक रंग देकर पुन: सामाजिक संदर्भ प्रदान करने में सिद्धहस्त हैं। इन कवियों का शब्द विन्यास कविता की सहज मांग के अनुकूल है—

''किसी भी शब्द को
एक आतशी शीशे की तरह
जब भी घुमाता हूँ आदमी, चीजों या सितारों की ओर
मुझे उसके पीछे/ एक अर्थ दिखाई देता
जो उस शब्द से कहीं बड़ा होता।''[6]

समकालीन काव्य-भाषा की एक अन्य विशेषता है मुहावरों का प्रयोग। मुहावरों के प्रयोग ने कविता में अर्थ चमत्कार उत्पन्न किया है। अत: समकालीन हिन्दी कविता मुहावरेदार भाषा में रची गई जनमानस की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति है। कविता में प्रयोग किए गए मुहावरे कविता के प्रभाव को और अधिक बढ़ा देते हैं। मुहावरे वास्तव में वाक्य खण्ड होते हैं जिनके प्रयोग से काव्य शक्ति और काव्य प्रभाव पहले की अपेक्षा और अधिक बढ़ जाता है। जिस बात को समझने में अधिक समय लगता है मुहावरों के प्रयोग द्वारा आसानी से उस बात को समझा जा सकता है। समकालीन कविता में अभिव्यक्ति को सुस्पष्ट करने तथा प्रभावशाली बनाने के लिए मुहावरों का प्रयोग किया गया है—

मैं देख रहा हूँ कि मेरी नानी
हिमालय पर मूंगदल रही है
और अपनी गाय को एवरेस्ट के खूँटे से बाँधे हुए है

समकालीन हिंदी कविता की भाषा बोलचाल की भाषा है, किन्तु वह केवल बोलचाल की भाषा ही नहीं है यह अपने सहजपन में यथार्थ के उलझाव भरे ताने-बाने को आम आदमी के कटु, तिक्त अनुभवों को पूरी शक्ति के साथ अभिव्यक्त करने वाली है। समकालीन कविता के विस्तृत परिदृश्य में वस्तुरूप और भाषा शैली सम्बन्धों को समाज-सापेक्ष सन्दर्भों में परखा जाना उचित होगा, क्योंकि इनका संबंध सामाजिक विकास की परिस्थितियों, अन्तर्जटिलताओं और अभिव्यक्तियों के सह-सम्बन्धों पर आधारित होता है।

...समकालीन हिन्दी कविता की भाषा में रचनात्मक संगठन है और तार्किक तनाव भी है। सामान्य भाषा से मान्यभाषा का रूप लेने के लिए कविता की भाषिक संरचना सादृश्य-विधान, बिम्ब-विधान, प्रतीक-विधान और मिथकीय संगठन से सम्पृक्त है।

मैं खुशी में तालियाँ बजाना चाहता हूँ
लेकिन यह क्या मेरी हथेलियों पर सरसो उग गयी है
मैं उसे पुकारना चाहता हूँ
लेकिन मेर होठों पर दही जम आयी है।''[7]

समकालीन हिन्दी कविता की भाषा में रचनात्मक संगठन है और तार्किक तनाव भी है। सामान्य भाषा से मान्यभाषा का रूप लेने के लिए कविता की भाषिक संरचना सादृश्य-विधान, बिम्ब-विधान, प्रतीक-विधान और मिथकीय संगठन से सम्पृक्त है। इसने काव्य शिल्प की दृष्टि से खड़ी बोली हिंदी कविता को नयी समृद्धि दी है। शब्दों के स्तर पर तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी शब्दों का प्रयोग हुआ है। कुछ कविताओं में तत्सम शब्दों का प्रयोग है, तो कुछ में तद्भव तथा कुछ में देशज व कुछ में विदेशी। अत: कविता की प्रकृति के अनुरूप शब्दों का चयन कवियों ने किया है। इन शब्दों के प्रयोग द्वारा कवियों ने काव्य भाषा के अन्तर्गत बिम्ब एवं प्रतीक-विधान का सुन्दर समायोजन किया है -

''चौके में बरतन की छटपट। टुन-झन, सुन-सुन।
बुझते नयनों की खामोशी काँप रही है। कुरेद रहा है दुखी
साँझ सा उर का छाला। उधर से मुख से विकल पंख फर-फर करते हैं। उधर स्वाद हित छुन-छुन करता गर्म-मसाला।''[8]

समकालीन कविता की काव्य भाषा में साहित्य के विविध आयामों को अर्थवत्ता प्रदान की गई है। परम्परा, संस्कृति, सभ्यता, शालीनता, विद्रोह, यथार्थ, आदर्श, करुणा, व्यंग्य, सहजता सभी तर्कों को समाहित करने वाली भाषा का प्रयोग कविता में किया गया है। इसकी भाषा जनतांत्रिक मूल्यों के करीब है। समकालीन कविता की भाषा संरचना न वायवीय है, न आरोपित है। वह साधारण जन जीवन के कटु यथार्थ से जुड़े हुए व्यक्ति व समाज के मूल्यबोध को जागृत करने वाली है। ''सही अर्थों में समकालीन कविता की भाषा वही है जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़कर देखती है। जो मनुष्य के मनुष्यत्व को उभारती है, न कि उन पहलुओं को या उन स्वार्थों को जो एक मनुष्य को दूसरे से किन्हीं अर्थों में नीचा दिखाते हों, या उसे दूसरे से गुलाम सिद्ध करते हों।''[9] समकालीन कविता ने परम्परागत भाषा के बंधन से मुक्ति पाकर अपनी रचनाशीलता के सन्दर्भ में नए शिल्प, नए भावबोध तथा नए तेवर को अपनाया, जिसमें सपाटबयानी के साथ-साथ मुहावरेदार भाषा का प्रयोग हुआ है। समकालीन कविता अपनी इन्हीं विशिष्टताओं के कारण अन्य काव्यधाराओं से अपने आपको अलग करते हुए हिन्दी साहित्य में स्थान पा सकी और अपनी पहचान सिद्ध कर सकी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. लीलाधर जगूड़ी, घबराए हुए शब्द, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981, पृ.: 37
2. रोहिताश्व, समकालीन कविता मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में, प्रभा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1986, पृ.: 251
3. राजेश जोशी, नागार्जुन रचना संचयन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृ.: 92
4. केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ, त्रिलोचन, राजकमल प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 2017, पृ.: 108
5. जे.बी. ओझा, नागार्जुन का काव्य : एक नव मूल्यांकन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, 2011, पृ.: 30
6. विश्वंभर मानव, रामकिशोर शर्मा, आधुनिक कवि, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2008, पृ.: 312
7. रमाशंकर यादव 'विद्रोही', नयी खेती, नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद, तृतीय संस्करण, 2018, पृ.: 68
8. डॉ. मंजु त्रिपाठी, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और उनका काव्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2001, पृ.: 91
9. अनिल मेहरोत्रा, कुँवर नारायण और उनका काव्य, ज्ञानभारती, दिल्ली प्रथम संस्करण, 1984, पृ.: 36

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

राजस्थान में आजादी के बाद कला यात्रा

डॉ. मोहन लाल जाट*

कला जीवन का अनुकरण मात्र ही नहीं बल्कि मौलिक सृजन है, कला पुनर्निर्माण है, कला सृष्टि है। कलाएं समय काल और परिस्थितियों के अनुसार अपना रूप बदलती दृष्टिगत होती है। अत: समय की गति के साथ इसके बाहरी व आंतरिक रूपों में परिवर्तन होता रहा है। सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों से प्रभावित वैचारिकता ने जहाँ इसके भीतरी मूल्यों को प्रभावित किया है, वही भौतिक विकास व यांत्रिकता की गति से इसका बाहरी स्वरूप भी परिवर्तित होता रहा है। कला समाज का दर्पण है तथा समाज के सभी पक्षों के प्रभाव से कला अछूती नहीं रह सकती है। विभिन्न कला प्रवृत्तियों, राजनीतिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक आदान–प्रदान, कला शिक्षा, प्रशिक्षण तथा वैश्विक परिवर्तन के दौर से राजस्थानी कला प्रभावित हुई है। राजस्थानी कला में परिवर्तन की प्रक्रिया अकस्मात नहीं हुई बल्कि सम्पूर्ण प्रक्रिया स्वभाविक रूप में क्रमवार हुई। राजस्थान में कला यूरोपीय शासन की भारत में स्थापना के पश्चात यह कला परिदृश्य परिवर्तित होने लगा। 19वीं शताब्दी में प्रचलित स्थानीय कला शैलियों तथा विदेशी चित्रकारों से कलात्मक आदान–प्रदान हुआ। कला के विकास का यह इतिहास सृजन के उदात्त शिखरों को स्पर्श करता हुआ समकालीन कला तक पहुँचा है।

राजस्थानी शैली के नाम से प्रचलित लघुचित्र शैली अपना वर्चस्व धीरे–धीरे खो चुकी थी, इस शैली पर आधुनिकता का एक खुलेपन का आह्वान हमें आजादी के बाद देखने को मिलता है। वास्तव में स्वतंत्रता से पहले यह कला अपना निजस्व कायम नहीं कर पा रही थी और अपना दम तोड़ चुकी थी। यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि कला सृजन का प्राचीन वैभव तथा गरिमा प्राय: लुप्त हो चुकी थी। इस समय राजस्थान की कला पर सस्ती कलैण्डरनुमा का प्रभाव पड़ रहा था।

राजस्थानी शैली का एक ऐसा समय रहा है जब राज्याश्रय में पल्लवित यह राजस्थानी लघु शैली काफ़ी समृद्ध और प्राचीन रही है, जो कला इतिहास के पन्नों पर अपनी अमिट छाप छोड़ती है। राजस्थानी चित्रकला के इतिहास में मेवाड़ कलम, मारवाड़ कलम, हाड़ौती एवं ढूंढाड़ कलम या शैली का महत्त्वपूर्ण स्थान था लेकिन मुगल साम्राज्य के पतन तथा राज्याश्रयों के अभाव में मध्यकालीन कलाकार संरक्षण की खोज में यत्र–तत्र प्रस्थान करने लगे। इस कारण राजस्थानी कला के सहज विकास क्रम में गतिरोध उत्पन्न हो गया। अंग्रजों का भारत में आगमन भी इसका महत्त्वपूर्ण कारण था।

1857 ई. में कम्पनी के शासन के स्थान पर इंग्लैण्ड की सीधी शासन व्यवस्था स्थापित कर दी गयी। इस समय अंग्रेजों ने भारतीय कलाकारों को यूरोपीय कला तकनीक में प्रशिक्षित करने के लिए देश में कई कला विद्यालय खोले। ये इण्डस्ट्रीयल आर्ट सोसायटी के सहयोग से भारत में कलकत्ता, मद्रास, लाहौर, एवं बम्बई में कला शिक्षा केन्द्र स्थापित किये थे, उसी श्रृंखला में जयपुर के महाराजा सवाई रामसिंह द्वितीय ने 1857 ई. में 'मदरसा–ए–हुनरी' नामक कला विद्यालय सिटी पैलेस के बादल महल में स्थापित किया। प्रथम प्राचार्य डॉ. सी. एस. वेलेन्टाइन नियुक्त हुए । इनकी यूरोपीय शिक्षा पद्धति के आधार पर ही यहाँ कला शिक्षा प्रारम्भ हुई जिससे राजस्थान के कलाकारों को प्रभावित किया। यह एक देशव्यापी लहर थी, जो यूरोपीय शासन की देन थी तथा इसे अंग्रेज जहाँ–जहाँ गये अपने साथ–साथ लेते गये। 18वीं से 19वीं शताब्दी तक यह शैली अबाध गति से विकसित होती रही।

आचार्य अविनीन्द्रनाथ टैगोर ने इस नवयुग के अर्थ को सर्वप्रथम समझा तथा भारतीय कला को विदेशी जकड़ से मुक्त कर नवजीवन देने का प्रयास किया। समसामयिक कला आन्दोलन का यहीं से प्रारम्भ होता है जो 'बंगाल स्कूल' के नाम से देशव्यापी स्तर पर विख्यात हुआ। यहाँ का वातावरण, शिक्षण–प्रणाली तथा सामग्री आदि यूरोपीय कला विद्यालय प्रणाली पर आधारित थी। यहीं से निकले कला शिक्षक सम्पूर्ण देश में फेले और प्रचार–प्रसार से नवीन कला आन्दोलन को एक दिशा देने लगे। 'मदरसा–ए–हुनरी' कालान्तर में क्रमश: जयपुर ऑफ आर्ट्स, महाराजा स्कूल ऑफ आट्स एण्ड क्राफ्ट्स के नाम से भी जाना गया। इसी संस्थान में असित कुमार हाल्दार, शेलेन्द्रनाथ डे, हिरण्यमय चौधरी तथा कुशलकुमार मुखर्जी ने प्राचार्य व उपाचार्य पद पर रहते हुए गौरवान्वित किया।

व्याख्याता (ललित कला), विद्याभवन गांधी शिक्षा अध्ययन संस्थान, रामगिरि, बड़गाँव, उदयपुर (राज.) 313011
मोबाइल : 9460724472
मेल– dr.mohanvbs@gmail.com

इसी आधुनिक वाद की चमक और तेज अधंड़ ने राजस्थानी चित्रशैली और कलाकारों की परम्परावादी दृष्टिकोण को अपने में समाहित कर नये विचारों का अंकुर प्रस्फूटित किया, नतीजन आधुनिक विचार धाराओं से युक्त कला शैली और परम्परावादी विचारों के इस मुठभेड़ में जिस कला की उत्पत्ति हुई उसने कई धाराओं में बहना शुरू कर दिया।

20वीं शती के प्रात:काल ने आदिकाल के सोये मनुष्य को मध्यकाल की रात्रि से कुछ अंशों तक जगा दिया। प्रकृति, समाज और स्वयं का कुछ अजीब सा बोध लिये मनुष्य ने जब आँखें खोली तो उसे ऐसा महसूस हुआ कि वह अब तक जो कुछ भी चिन्तन चक्षु द्वारा देख रहा था, देखता आया था, वह स्वप्न ज़्यादा था और यथार्थ कम, अत: 20वीं शती का यह मार्ग ही नया नहीं था, स्वयं पथिक भी नया था। आजादी के पश्चात् राजस्थानी चित्र सृजन का तकनीक व विचारधाराओं के आधार पर मुख्यतया तीन चरणों में विभक्त कर सकते हैं।

प्रथम–आजादी से एक दशक पूर्व व एक दशक के बाद का समय था 1935 ई. से 1955 ई. का द्वितीय– राजस्थान ललित कला अकादमी के स्थापना के आसपास का समय तथा कतिपय राजस्थान के नवोदित कलाकारों का पश्चिमी कला शिक्षा और भारतीय कला शिक्षण संस्थानों से प्रशिक्षित होकर राजस्थान की भूमि में कला का पुर्वारंजन का समय यथा 1955 ई. से 1965 ई. का तथा तृतीय 1965 ई. से अब तक की आधुनिक कला व समकालीन का दौर।

पहले चरण में वरिष्ठ तथा तरूण कलाकारों के समूह में मूल रूप से दो प्रवृत्तियाँ प्रचलित थी। पहली प्रवृत्ति के कलाकार पश्चिमी कला तकनीक से अनुप्राणित थे, जो सीधे मॉडल से निरीक्षण करके पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टिक्रम तथा स्थितिजन्य लघुता आदि के प्रयोगों द्वारा चाक्षुय अनुभूति को सृजन का मुख्य ध्येय समझते थे। इसके अन्तर्गत स्वर्गीय भूरसिंह शेखावत, स्व. बी.सी. गुई, द्वारका प्रसाद, पी.पी. कोठावाला आदि आते है।

दूसरे वे जो बंगाल स्कूल के अवनीन्द्रनाथ टैगोर के कला आंदोलन से प्रेरित 'वाश प्रणाली का प्रयोग व भारतीय कला वस्तु का उपयोग कर रहे थे। अवनीन्द्रनाथ टैगोर के शिष्य असित कुमार हाल्दार, नन्दलाल बोस, शैलेन्द्रनाथ डे़ व इनके शिष्यों में पदमश्री रामगोपाल विजयवर्गीय, पद्मश्री स्व. कृपालसिंह शेखावत, धीरेन घोष, स्व. श्री देवकीनंदन शर्मा, स्व. श्री गोवर्धन लाल जोशी 'बाबा' और स्व. श्री परमानन्द चोयल प्रमुख थे। जिन्होंने अपनी कर्मस्थली राजस्थान के जयपुर, वनस्थली विद्यापीठ, उदयपुर, को बनाया।

वनस्थली विद्यापीठ में प्रो. देवकीनन्दन शर्मा ने 1937 ई. में चित्रकला विभाग की स्थापना की। सम्भवत: यह एकमात्र संस्थान है जो भित्ति–चित्रण की जयपुर तकनीक (आराइश) तथा इटालियन तकनीक में व्यावसयिक प्रशिक्षण शुरू किया। भित्ति चित्रण की इस परम्परा में विनोद बिहारी मुखर्जी, शैलेन्द्रनाथ डे, एन.एस. बेन्द्र, शान्ति दवे, ज्योति भट्ट, के.वी. हरिदासन, आर.बी. भास्करन, के.एम. आदिमूलम, विकास भट्टाचार्जी आदि ने अपना योगदान दिया जिसके प्रमाण कला विभाग व अन्य भित्तियों पर आज भी देखे जा सकते हैं। यहाँ प्रतिवर्ष भित्ति चित्रण के शिविर में देश भर के कला विद्यार्थी व कलाकार प्रशिक्षिण लेते है।

1955 ई. के बाद का समय राजस्थानी कला में महत्त्वपूर्ण मोड़ के रूप में देखा जा सकता है। इस समय तक कई युवा कलाकार भारत के विभिन्न कला संस्थानों से शिक्षा प्राप्त कर अपने देश आने लगे। व्यवहारिक स्तर पर कला के संपूर्ण इतिहास में यह सबसे अधिक संक्रमण काल भी रहा।

हुसैन, आरा, राजकुमार, जे. स्वामीनाथन, सलीखे कुछ अपवादों को छोड़ दे, तो 60 के दशक में भारतीय कला पर अमेरिका कला ने काफ़ी असर डाला। उस समय ऐसा लग रहा था कि दुनिया भर में कला की एक ही भाषा होगी। पिछड़े हुए देशों के कलाकारों की बड़ी संख्या इस कला का अनुसरण करने लगी, उससे प्रेरित होने लगी। एक पूरी पीढ़ी आधुनिकता के इस आंतक में अपनी जटिलता और सरलता दोनों ही खो बैठी।

आधुनिकता के इस भंवर जाल में सबसे अधिक हानि तब हुई जब जर्मन अभिव्यंजनावादियों का इन कलाकारों के मनोचित पर प्रभाव आया। अभिव्यंजनावादियों ने विश्व से पीड़ित होकर रंगों के तीक्ष्ण मनोवैज्ञानिक प्रभाव के आधार पर संरचना की थी। अभिव्यंजना उनकी मूलाधार थी और डिजाइन गौण।

राजस्थानी कलाकारों ने इन्हीं अभिव्यंजनावादियों के भावात्मक धरातल व आवश्यकताओं के सोचे समझे बगैर छाया के रूप में आयातित इन चित्रों के अत्याधुनिक होने का मापदण्ड मानकर असंतुलित चित्र रचना शुरू कर दी। इसी संक्रमण काल के दौरान ही राजस्थानी कलाकारों ने अपनी परम्परागत कला से हटकर भारतीय कला परिदृश्य में बने आधुनिक वातावरण को समझना प्रारम्भ किया।

राष्ट्रीय दृष्टि से आजादी की प्राप्ति का नशा, स्वदेशी का बोलबाला, सामन्तशाही के उन्मूलन से मानवीय अस्मिता की स्वच्छंदता का भान और लोकतांत्रिक जीवन शैली के प्रादुर्भाव से प्रेरित नये वातावरण में राजस्थानी कलाकारों के लिये भी यह ताजी हवा में सांस लेने का समय था।

छठे दशक में भारतीय कलाकार ने आधुनिक कला का अनुकरण करने की जगह उससे संवाद स्थापित किया। अमूर्तन और आकृति मूलक के विवाद ने बेहतर रचनात्मक रूप लिया।

राजस्थान की कला परिदृश्य भी इन अनेक कला धाराओं से प्रभावित हुआ तथा राजस्थान के आधुनिक कलाकारों की विविध कला विचारधाराओं से साक्षात्कार हुआ। इसलिए परम्परा से कुछ हटकर विविध तकनीकों को अपनाकर बदलते हुए परिवेश को चित्रकरों ने अपने-अपने ढंग से अभिव्यक्ति दी। अब यहाँ चित्रभाषा, शिल्प और संरचना के सौन्दर्य से अनभिज्ञ कलाकारों का विषयवस्तु पर अधिक जोर था जो आज भी अधिकांश कलाकारों के चित्रधर्म में है। अत: हम यहाँ विगत चार दशकों में कला सृजन में हुये वैचारिक परिवर्तन, कला चेतना और आधुनिकता के बोध के दर्शन कर सकते है। जहाँ कला संभावनाओं के नए आयाम भी खुले है।

राजस्थान के चित्रकारों ने आधुनिकता को स्वीकारते हुए लोककला प्रतीकों एवं परम्परागत शैलियों का आज के सदंर्भों में प्रयोग करते हुए जहाँ एक ओर आधुनिक कला को गति दी है। वही हमारी परम्परागत एवं लोक जीवन से संबंधित कला शैलियों को जीवंत रखने में भी अहम् भूमिका निभाई है। राजस्थानी कलाकारों का एक बड़ा समूह विभिन्न कला विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों से अध्ययन कर नये कला मूल्यों के साथ लौटे और उनके प्रयासों ने राजस्थान में आधुनिक कला की राह को प्रशस्त किया।

राजस्थान की इस आधुनिक कला विकास में एक नये अध्याय के रूप में 1957 ई. में स्थापित राजस्थान ललित कला अकादमी का उल्लेखनीय योगदान रहा है। अकादमी की वार्षिक प्रदर्शनियों के जरिये बहुत से चित्रकारों और मूर्तिकारों को अपने रचनाधर्म को प्रदर्शित करने का सुनहरा अवसर मिला। यही एक ऐसा मंच सम्मिलित हुआ जहाँ कलाकार अपने आपको स्वतंत्र महसूस कर रहा था। इस अकादमी के तहत आधुनिक शैली के चित्रों और मूर्तिशिल्पों की एक समूह प्रदर्शनी आयोजित की गई जिसमें 168 कलाकृतियाँ शामिल की गई तथा मार्च माह में 181 चित्रों तथा मूर्तिशिल्पों की वार्षिकी भी जयपुर में आयोजित की गई जिसमें अपेक्षाकृत वरिष्ठ और परम्परागत शैली में काम करने वाले चित्रकारों की अलावा मूर्तिकार भी थे।

अकादमी द्वारा आयोजित वार्षिक कला प्रदर्शनियों, कला प्रतियोगिताओं ने जहाँ एक ओर कलाकारों को जागरूक एवं प्रोत्साहित किया वही समाज में कलाकर्म के प्रति आकर्षण बढ़ा तथा इसे एक आदर सूचक महत्त्वपूर्ण गतिविधि के रूप में स्वीकृत किया जाने लगा।

अकादमी के मंच पर कलाकारों को अपनी कला प्रतिभा और अभिव्यक्ति को प्रदर्शित करने के अवसर मिलने लगे। कलाकारों में एक साथ उठने बैठने, विचार विमर्श करने तथा नये वादों और प्रवृत्तियों से परिचित होने के अधिक अवसर उपलब्ध होने लगे। अकादमी गतिविधियों ने न केवल कलाकारों को कला चित्रण वरन् सामयिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कला प्रगति एवं विचारों से अवगत कराने हेतु प्रकाशन का विशेष कार्य आरंभ किया।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर देश और प्रान्त की कला में उतार-चढ़ाव आते रहे है, कभी संक्रामक काल से गुजरती है तो कभी उसे गौरव-गरिमा भी प्राप्त होती है। 1965 ई. के बाद का समय राजस्थानी कला के उत्थान का सूचक रहा है।

1965 ई. तक आते-आते राज्य स्तरीय अकादमी की स्थापना के साथ ही कलाकारों के सृजनात्मक आवेग में और तीक्ष्णता दृष्टिगोचर होने लगी वही महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में भी कला की उच्च शिक्षा दी जाने लगी और पाठ्यक्रम में बहुसांस्कृतिक कला शिक्षा जिसमें यूरोप, अमेरिका, एशिया आदि महाद्वीपों की प्राचीन और अर्वाचीन कलाओं के ऐतिहासिक एवं अन्वेषणात्मक अध्ययन को शामिल किया गया। राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित देश-विदेश, त्रिनाले-बिनाले, कला-प्रदर्शनियों का सूचनात्मक संज्ञान राजस्थानी कलाकारों को होने लगा और यही राजस्थान की आधुनिक कला के बढ़ते सोपानों की आधार भूमि बनी। यह कला के क्षेत्र में नवजागरण काल था। जिसमें कलाकारों ने अपने कृतित्व एवं सृजन में निजी शैली, माध्यम, तकनीक द्वारा नूतनता और विविधता का प्रदर्शन किया। उनकी रचनात्मकता में सहजता तथा अभिव्यक्ति में सौन्दर्य बोध का तीखा तेवर था।

मेवाड़ की कला भूमि उदयपुर में 1958 ई. में तूलिका कलाकार परिषद् के गठन के साथ कलाकारों द्वारा कला के उत्थान एवं विकास के प्रयास प्रारम्भ हुए। 1968 ई. में 'टखमण-28' उदयपुर, 1970 ई. में प्रोगेसिव आर्टिस्ट ग्रुप, जयपुर तथा 'कलावृत्त' जयपुर, 1979 ई. में 'आज' जैसी महत्त्वपूर्ण कला संस्थानों का उदय हुआ। इन सभी कला संगठनों के अनेक कलाकार आज भी जगत के जाने माने हस्ताक्षर है जिनका योगदान भारतीय कला जगत में भी अपूर्व है। इन संस्थाओं के अतिरिक्त 1971 ई. में 'रंगबोध, 1974 ई. में 'साहित्यकला मंदिर', 1975 ई. में 'कलम', 1976 ई. में 'धोरा', 1980 ई. में 'मयूर', 1982 ई. में 'फेस' तथा जोधपुर कला परिषद् जैसी संस्थाएँ समय-समय पर कला शिविरों को आयोजित कर प्रदर्शनियाँ एवं सेमीनार आदि का आयोजन कर सृजन कर्म में भागीदारी निभा रही है।

1960 से 1980 ई. के दो दशक राजस्थान की आधुनिक कला के लिए दो कारणों से बहुत महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं एक तो यह कि इस अन्तराल में बहुतेरे उल्लेखनीय चित्रकारों का काम सामने आया और दूसरे यह कि यहाँ के कुछ चित्रकारों

ने राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने के लिए निहायत मौलिक, अपनी निजी चित्रभाषा भी ईजाद की।

राजस्थान की इस समकालीन कला धारा की ओर विस्तार से पर्याप्त योगदान देने में 1986 ई. में स्थापित 'पश्चिमी क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, उदयपुर की अहम् भूमिका है। समय-समय पर कला शिविरों का आयोजन अखिल भारतीय स्तर पर यहाँ किया जाता रहा है।

इसी कड़ी में जवाहर कला केन्द्र, जयपुर 1993 ई. में स्थापित हुआ। स्थानीय कलाकारों एवं अन्य आसपास के कलाकारों के लिए भी यह संस्था विकास का वरदान साबित हुई है। अनेक अखिल भारतीय कला शिविर एवं प्रदर्शनियाँ निरन्तर लगाई जा रही है। खासतौर पर यह संस्था युवा कलाकारों का उत्साहवर्धन करने में अपनी भूमिका निभा रही है।

19वीं सदी के उत्तरार्ध से राजस्थान में आधुनिक के नव कला तत्वों तथा लक्षणों का बीजांकुर उत्तरोत्तर विकसित होता रहा- उनमें देशी व यूरोपीय प्रभावों की गंगा-जमुना संगम है।

वर्तमान में समकालीन कला को मोटे रूप दो प्रवृत्तियों में विभाजित किया जा सकता है— मूर्त और अमूर्त, तथा एक तीसरी प्रवृत्ति भी है जो पारम्परिक राजस्थानी चित्रों को कार्य दृष्टि से सामयिक मुहावरे को अभिव्यक्त करती है। उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियों के अन्तर्गत कई ट्रेन्ड्स जारी है— मूर्त प्रवृत्ति में प्रथम पश्चिमी अकादमिक एक्सेक्टेसिज्म से अतियथार्थ, फोटोग्राफिक इमेजेज के प्रयोग, भारतीय मुहावरों का प्रयोग तथा इन्स्टालेशन के प्रयोग देखे जा सकते हैं तथा कई मिश्रित प्रमाण भी चित्रों में पाये जाते हैं जो एक तरह से व्यावसायिकता से जुड़े और आनंद के लिए सहज और नयनाभिराम भी होते है।

इसी प्रकार अमूर्तन की दूसरी प्रवृत्ति के अन्तर्गत ज्यामितिक संरचनाएँ, अनाकृतिक मूलक व स्थापत्य के छायाभाषी तथा डिजाइन व रंगों को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाने वाली चित्रकारिता प्रवृत्त है।

विभिन्न कला संस्थाओं के सक्रिय कलाकरों में स्व. पी.एन. चोयल, मनसाराम, सुरेश शर्मा, लक्ष्मीलाल, प्रो. सी.एस. मेहता, शब्बीर हसन काजी, प्रेमचन्द गोस्वामी, नाथुलाल वर्मा, कन्हैयालाल वर्मा, रामेश्वर सिंह, समंदर सिंह खंगारोत, वीरबाला भावसार, ज्योतिस्वरूप सामर, शैल चोयल, सुरजीत चोयल, बसंत कश्यप, किरण मुर्डिया, मोहन शर्मा, सुमहेन्द्र, राधावल्लभ गोस्वामी, भवानी शंकर शर्मा, दीपिका हाजरा, राधाकृष्ण वशिष्ठ, ललित शर्मा, मीना बया, विष्णुप्रकाश माली, युगलकिशोर शर्मा, अशोक हाजरा, राम जैसवाल, मीनाक्षी भारती, अब्दुल करीम, सुरेश जोशी, दिलीप सिंह, ऐकेश्वर हटवाल, सुनीत घिल्डियाल, धर्मेन्द्र राठौड़, मदनसिंह राठौड़, हेमन्त द्विवेदी, दीपक भारद्वाज, अर्चना कुलश्रेष्ठ, रघुनाथ शर्मा, रामानुज पंचौली, विजय शर्मा, शाहिद परवेज, दीपक भट्ट, सुशील निम्बार्क मंयक शर्मा, मोहन लाल जाट आदि का नाम आज के राजस्थानी आधुनिक कला जगत में अपनी अमिट छाप छोड़ने को तत्पर दिखाई देते है।

आज आधुनिक कला के मूल्यों में भी परिवर्तन आ गया है। तकनीक आज की कला की मुख्य देन है जैसे- जिरोक्स, फोटोग्राफी, ग्राफिक डिजाईन, कम्प्यूटर इत्यादि तकनीकों की सहायता से नवीन संभावनाओं का जन्म हो रहा है। आज चर्चा किसी वाद, फैशन या प्रकार में हथकंडे की उतनी नहीं होती, जितनी होती है नये माध्यम की नई प्रणाली की नयी विधा की। इस प्रकार अभिव्यक्ति का माध्यम चुनने में कलाकार अपने आपको पूर्ण रूप से स्वतंत्र रखना चाहते है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि राजस्थान का कलाकार पश्चिम आधुनिकीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय कला बाजार या व्यवसायीकरण के साथ अपनी परम्परा से सहृदय जुड़ा हुआ है। चित्रण अमूर्त हो या आकृति मूलक, यहाँ के चित्रकार अपनी निजी लघु चित्रण परम्परा, स्थापत्य एवं लोक कलाओं से प्रेरित होकर समकालीन कला के साथ कदम से कदम मिला के चल रहे है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. आकृति-समाचार बूलेटिन, राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर सितम्बर-अक्टूबर 1992
2. व्यास, ए.जी.-राजस्थान की चित्रकला : एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर 1960
3. चोयल, शैल-समकालीन कला : समकालीन राजस्थानी कला एवं विश्लेषण, राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर 1984
4. दमामी ए.एल.-राजस्थान की आधुनिक कला एवं कलाविद्, हिमांशु पब्लिकेशनस्, उदयपुर-दिल्ली, 2004
5. भारद्वाज विनोद-समकालीन भारतीय कला की संभावनाएँ, राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर 1991
6. श्रीवास्तव विजयशंकर एवं गुप्त मोहनलाल-संपादक, रूपांकन, हेमन्त शेष-लेखक राजस्थान की समकालीन कला, प्रिंटवेल पब्लिशर्स डिस्टीब्यूटर्स, जयपुर 1995
7. सरगड़ा लक्ष्मणलाल-शोधग्रन्थ-20वीं सदी के उत्तरार्द्ध की राजस्थान की आधुनिक चित्रकला, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर 2007
8. रूपांकन, लेख-राजस्थान की चित्रकला में आधुनिकता के प्रारंभिक चरण, जयपुर 1995
9. सरल मनमोहन, गौतम आर.बी. (सम्पादक)-समसामयिक कला की वर्तमान स्थिति एवं समसामयिक कला की वर्तमान स्थिति और दशा, राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर 1995
10. चतुर्वेदी डॉ. ममता, समकालीन भारतीय कला, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

स्त्री विमर्श और महादेवी वर्मा का काव्य

डॉ. कामिनी *

समकालीन समय में स्त्री विमर्श स्त्री मुक्ति के संदर्भ में पारिभाषित किया जाता है। पुरुष शासित समाज में स्त्री को जो रूप दिया गया है उसके साथ अपनी सहमति–असहमति और विरोध के साथ स्वयं की सत्ता का अहसास ही स्त्री विमर्श है जैसा कि डॉ. रामपाल गंगवार लिखते हैं—''स्त्री विमर्श का दर्शन वस्तुत: स्त्री की मुक्ति से संबंधित है यह मुक्ति मानसिक–भौतिक एक साथ है। मानसिक मुक्ति का संबंध सांस्कृतिक मुक्ति से है, सामाजिक सोच में परिवर्तन से है।''[1]

विमर्श के रूप में 'स्त्री–विमर्श' उत्तर आधुनिकतावादी दौर के साथ शुरू होता है। विमर्श को शक्ति या सत्ता को अधिकृत करने का साधन माना जाता है। स्त्री का पुरुष वर्चस्व से मुक्त होकर पुरुषों के बराबर राष्ट्रीय और सामाजिक विकास में अपनी भूमिका निर्धारित करने के लिए शक्ति सम्पन्न हो सकना ही स्त्री विमर्श है वस्तुत: स्त्री के जागृत होने को ही स्त्री विमर्श कहा जा सकता है। भारत में नारी जागरण की शुरुआत नवजागरण के साथ होती है। उस समय स्त्री की स्थिति का प्रश्न महत्त्वपूर्ण था। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह पुरुष की इच्छा पर निर्भर थी। नवजागरण के दौरान महात्मा ज्योतिबाराव फुले और उनकी पत्नी साबित्री देवी फुले ने न केवल स्त्रियों की सामाजिक गुलामी के विरूद्ध आवाज उठाई, बल्कि उन्होंने शिक्षा के अधिकारों का भी समर्थन किया।

स्त्री विमर्श की दृष्टि से सन् 1882 का वर्ष स्त्री जागरण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि इसी वर्ष महाराष्ट्र की क्रांतिकारी महिला ताराबाई शिन्दे की पुस्तक 'स्त्री–पुरुष तुलना' छपी, जिसमें स्त्री–दृष्टि से महाराष्ट्र की पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था की आलोचना की गई है। इसी वर्ष हिन्दी में भी एक पुस्तक छपी—'सीमंतनी उपदेश'। इसकी लेखिका को अज्ञात हिन्दू औरत माना गया है। इस पुस्तक में नारी जागरण और उसकी, आजादी की आवाज अत्यन्त बुलन्द स्वर में उठाई गई है—सीमंतनी उपदेश में विधवा जीवन, सती–प्रथा, पतिव्रता तथा सतीत्व सम्बन्धी भ्रामक धारणाओं का खण्डन किया गया है। भारतीय स्त्री की पराधीनता की पीड़ा का जिक्र उनके इस कथन से स्पष्ट है—''अगर इस दुनिया में कुछ खुशी है तो उन्हीं को है जो अपने तईं आजादी रखते हैं। हिन्दुस्तानी औरतों को तो आजादी किसी हालत में नहीं हो सकती। बाप, भाई, बेटा, रिश्तेदार– सभी हुकुमत रखते हैं। मगर जिस कद्र खाविन्द जुल्म करता है उतना कोई नहीं करता, लौंडी तो यह सारी उम्र सब ही की रहती है, पर शादी करने से बिल्कुल जरखरीद हो जाती है। इस दुनिया में चाहे बादशाहत की नियामत मिले और आजादी न हो, नर्क के बराबर है।[2]

बीसवीं सदी से दूसरे दशक में नारी जागरण का यह स्वर और मुखर हुआ और स्त्री जीवन से जुड़ी विभिन्न पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु 'बालाबोधिनी' पत्रिका निकाल कर और 'नारी नर सम होहिं' कहकर पहले ही नारी जागरण की वकालत कर चुके थे। इसी के बाद महादेवी वर्मा भी चाँद पत्रिका के साथ हिन्दी साहित्य के परिदृश्य पर आती हैं। महादेवी वर्मा चाँद से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है थीं, पहले एक कवि के रूप में और बाद में एक सम्पादक के रूप में। सन् 1935 में चाँद का विदुशी अंक महादेवी वर्मा के संपादन में निकला। इसके माध्यम से उन्होनें स्त्रियों को आत्म सजग करने का प्रयास किया।

महादेवी के सन्दर्भ में विचार करते हुए आलोचक अक्सर उनके गद्य एवं पद्य को अलग–अलग करके आँकते हैं और विश्लेषण मुख्यत: उनके कविता–प्रसंग के अन्तर्मुखता, वैयक्तिकता, विरह, वेदना जैसे शब्दों के इर्द–गिर्द घूमता रह जाता है महादेवी का व्यवस्था के ख़िलाफ़ आक्रोश और परिवर्तन की माँग करता हुआ गद्य हाशिये पर चला जाता है जो महादेवी के जीवन का देखा, झेला एवं अनुभव किया यथार्थ भी था। यह खण्डित आलोचना दृष्टि सीधे तौर पर मान लेती है कि ''अपनी हरसाँस का इतिहास लिख डालने को आतुर कवयित्री गद्य में तो अपनी

सहायक प्राध्यापक हिन्दी, शासकीय नवीन कन्या महाविद्यालय बैकुंठपुर

सामाजिक भावना को व्यक्त करती है और कविता में अपने विशिष्ट आत्मीय जीवन-प्रसंगों को।''[3] महादेवी वर्मा की कविता के मूल्यांकन के सन्दर्भ में प्राय: एक आलोचनात्मक पूर्वाग्रह दिखाई देता है कि महादेवी दुख की, पीड़ा की, वेदना की कवयित्री है। महादेवी की कविता मे रहस्यवाद की खोज की जाती है। उस दुख, पीड़ा वेदना के पीछे भारतीय नारी का जो चित्र महादेवी जी ने खींचा उसकी ओर प्राय: आलोचकों का ध्यान नहीं जाता। उनके गद्य में जो स्पष्ट है, वही उनकी कविताओं में छिपा हुआ है। भारतीय स्त्री के जीवन के अनुभवों, आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति वे श्रंखला की कड़ियाँ में स्पष्ट रूप से करती है तो उनके काव्य को उससे अलग करके कैसे देखा जा सकता है उनके मूल्यांकन के सन्दर्भ में पन्त जी के विचार द्रष्टव्य हैं— ''उन्हें हमें मध्य युगों की पीठिका से हटाकर इसी युग के बाहरी-भीतरी बौद्धिकी, हार्दिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक, सशक्त, मर्मस्पर्शी, लोकव्यापी प्रभावों की संश्लिष्ट संग्रहित भूमिका पर खड़ा कर देखना चाहिए।''[4]

महादेवी के काव्य में जो आँसू हैं, वह किसी कमजोरी के पर्याय के रूप में नहीं आते, ये आँखों के वे उजले आँसू हैं, जिससे धुलकर जीवन नया अर्थ पाता है। इस आँसू या वेदना का अर्थ पराजय या पलायन नहीं है अपितु वह नारी के दुखते कष्टों की, नारी अवचेतना की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार—''महादेवी वर्मा की कविता में जो दुख, वेदना, निराशा और अंतर्मुखता है, वह सब उनके समय की और आज की भी भारतीय स्त्री के जीवन की वास्तविकताएं हैं और सम्भावनाएं भी।''[5]

महादेवी के नारी-मन ने समाज से यह छूट पहली बार ली कि यह कह सके कि 'उनसे कैसे छोटा है मेरा यह भिक्षुक जीवन'।[6] प्रियतम को बराबरी में पाना-अपनाना महादेवी को मान्य है, लेकिन पुरुषवाद के प्रति खुला विद्रोह और हिकारत का भाव। महादेवी नारी की मुक्ति, उसकी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करती हैं। नारी-मुक्ति के लिए महादेवी के काव्य में तीव्र बेचैनी है नारी जागरण का सामाजिक विस्तार उनकी चेतना के कोने-कोने में दहक रहा हैं। तभी वह कह सकी हैं—

''कीर का प्रिय आज आज पिंजर खोल दो/हो उठी है चंचु छूकर/तीलियाँ भीवेणु सस्वर/वन्दिनी स्पन्दित व्यथा ले/सिहरता जड़ मौन पिंजर/आज जड़ता में इसी की बोल दो।''[7]

यह जड़ता उस नारी-जीवन की जड़ता है, जो सदियों से पुरुष -वर्चस्व के भीतर जीती आई है। महादेवी की पीड़ा व्यक्तिगत न होकर सामंती जंजीर में जकड़ी सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त नारी जीवन की पीड़ा है। छायावादी काव्य में भारतीय नारी जीवन की सिसकती पीड़ा को जोड़ देना महादेवी जी के काव्य का मौलिक योगदान है भारतीय समाज में परतंत्र नारी के करूणा का भी यह प्रतीक है। कवयित्री ने नारी की भावनाओं की अभिव्यक्ति अपनी कविताओं में अनेक रूपों से की है।

महादेवी जी के काव्य में पुरुष वर्चस्ववाद से घिरी अकेली नारी की पीड़ा है। ''महादेवी जी के आँसुओं में व्याप्त यातना में नारी-व्यथा की वास्तविकता का वह इतिहास मौजूद है, जिसे अभी पुरुष प्रधान वर्चस्ववाद में ठीक से लिखा नहीं जा सका है। इस नारी दमन की कथा-व्यथा को भविष्य में स्त्री-विमर्श अपने ढंग से अवश्य लिखेगा और इन गीतों के दमित अर्थ का मिशेल फूको की शक्ति सत्ता थियरी से मदद लेकर नया पाठ नया विमर्श या साक्ष्य प्रस्तुत करेगा।''[8]

महादेवी जी की कविता में अँधेरा बहुत बार आता है, लेकिन इस अँधेरे के साथ-साथ एक दीपक भी आता है, जो महादेवी जी को बहुत प्रिय है। जैसा कि वह 'दीपशिखा' की भूमिका में कहती हैं-आलोक मुझे प्रिय है पर दिन से अधिक रात का दिन में तो अंधकार से उनके संघर्ष का पता ही नहीं चलता, परंतु रात में हर झिलमिलाती लौ योद्धा की भूमिका में अवतरित होती है। उनके इस कथन से उनकी संघर्षप्रियता का पता चलता है। उनकी कविता पर बार-बार जो पलायन का आरोप लगाया जाता है, वह संघर्ष की स्थिति में कैसे सम्भव है। महादेवी जी के यहाँ अंधकार से संघर्ष करने वाला दीपक भारतीय स्त्री की तरफ है। जो निरन्तर अपने अस्तिस्व के लिए जूझ रही हैं। प्रो. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार—''उनकी कविता में अंधकार से आलोक का जो संघर्ष है, वह भारतीय स्त्री के जीवन की पराधीनता से स्वाधीनता की आकांक्षा का सघर्ष है।''[9]

महादेवी जी के यहाँ संघर्ष नारी-जागरण के रूप में आता है। महादेवी जी ने अपनी पुस्तक 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में जो कुछ लिखा, वह किसी स्त्री-केन्द्रित चिन्तन का पश्चिमी अनुकरण नहीं था और न ही वे स्त्री शोषण का सुसम्बद्ध इतिहास लिखने की कोशिश कर रहीं थी बल्कि उनके इस विमर्श का केन्द्र भारतीय स्त्रियों की दयनीय स्थिति थी। स्त्रियों की इस दयनीय स्थिति और उस स्थिति से संघर्ष का चित्रण महादेवी जी अपनी कविता में करती हैं। यह संघर्ष सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के प्रति सजगता और नर-नारी की समानता के भाव के रूप में आता हैं। वह नारी के भोगवाद और रीतिवाद का पर्याय मानी जाती थी, वह महादेवी के काव्य में एक सशक्त नारी के रूप में आती है, तभी महादेवी जी कहती है कि—

''चिर सजग आँखे उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना!

जाग तुझको दूर जाना/कह न ठंडी साँस में, अब भूल वह जलती कहानी/आग हो उर में तभी दृग में सजेगा आज पानी/

हार भी तेरी बनेगी मानिनी जय की पताका/राख क्षणिक पतंग की है अमर दीपक की निशानी/है तुझे अंगार-शय्या पर मृदुल कलियाँ बिछाना/जाग तुझको दूर जाना।'[10]

महादेवी जी की कविताओं में आँसू इसीलिए है क्योंकि उर में आग है। यह आग ही स्त्री-जागरण में सहायक हैं। प्राचीन काल से सामंती बंधनों में जकड़ी नारी अपनी मुक्ति के लिए छटपटा रही है। वह सदियों से एक निश्चित सीमा में कैद रही है तभी वह कह सकी है कि—''तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है?''[11] उस ओर के संसार को देख लेने की लालसा नारी को जागृत करने में सहायक रही हैं। अब वह इतनी हिम्मत कर सकी है कि क्षितिज को अर्थात् उस रहस्यमय आवरण को तोड़ने की बात कर रही हैं, जिसमें वह सदियों से आबद्ध रही हैं।

महादेवी जी के यहाँ स्वतंत्र नारी-व्यक्तित्व की व्यंजना के संकेत है। पुराने जर्जर मूल्यों से पैदा हुए संस्कारों के प्रति वह क्रांतिकारी हैं तभी अपने प्राणों का दीप जलाकर वह दीवाली मनाती हैं -

''अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली
प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीवाली'[12]

महादेवी जी के यहाँ जो आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा है, वह आत्मप्रसार करना चाहती है उनके काव्य में आये हुए चातक, बादल और दीपक सभी मुक्ति के प्रतीक हैं। आत्म प्रसार में कवयित्री सारे बंधनों को तोड़ देना चाहती है महादेवी के काव्य में प्रिया, प्रेयसी, सजनी, सखी, प्रियतम से ऊँचे आसन पर बैठी दिखाई देती है, जो नारी जागरण का प्रतीक है। महादेव जी के इस नारी चिंतन के बारे में प्रो. कृष्णदत्त पालीवाल का कथन द्रष्टव्य है—''इन नारी-मन के चिंतन और चिति में जो प्रभु या प्रिय या करूणानिधि बसा हुआ है, उसमें भी पति का मध्ययुगीन आतंक नहीं है। आधुनिक जीवन और उस चिंतन से उत्पन्न बराबरी का समानता, बंधुता का भाव हैं जहाँ कहीं बराबरी का भाव न होने का अहसास मात्र हुआ है वहाँ पर गहरा आक्रोश शब्दमूर्त हुआ है। 'उनसे कैसे छोटा है मेरा यह भिक्षुक जीवन'' जैसे ललकार-भरे कथन है प्राचीन बाल-विवाह और स्वयं का बाल-विवाह उनमें स्थायी दर्द बनकर उठता हैं नारी-पुरुष को वे मात्र दाम्पत्य बंधन में नहीं जकडती, बल्कि दांपत्येतर रिश्तों में बाँधती है। इस तरह भारतीय नारी का संचित-दमन-संत्रास-कुंठा इस काव्यात्मकता में विरेचन पाता है—पावनता जनित विवेक के साथ।''[13]

महादेवी वर्मा ने जो चिंतन अपने ग्रन्थ शृंखला की कड़ियाँ में किया है, वही उनके काव्य में भी देखा जा सकता है। काव्य और गद्य को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। उनकी 'शृंखला की कड़ियाँ' अगर गद्य में स्त्री-विमर्श की शुरुआत है जैसा कि शिव कुमार मिश्र जी कहते हैं—''महादेवी की शृंखला की कड़ियाँ सही मायने में स्त्री-विमर्श को शुरू करने वाली किताब है। हमारे समाज में स्त्री की हैसियत उसकी अस्मिता से जुड़े जो तमाम मुद्दे हैं, वे सब महादेवी ने इस किताब में उठाये है।''[14] तो उनका काव्य भी भारतीय स्त्री की मुक्ति की छटपटाहट का काव्य है। एक स्त्री होकर उस युग में महादेवी जी ने जो कुछ रचा वह एक नारी के द्वारा नारी की व्यथा का चित्रण था। उस युग में बहुत स्पष्ट नहीं कहा जा सकता था, इसलिए महादेवी जी ने कई बार छिपाकर कहना चाहा है, जिसके लिए उन पर रहस्यवाद के आवरण का आरोप लगाया जाता है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

1. मुक्तिबोध : कामायनी एक पुनर्विचार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991 पृ. 115
2. डॉ. रामपाल गंगवार : समकालीन प्रश्न और साहित्य चिंतन, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2007 पृ. 48
3. सं. डॉ. धर्मवीर : सीमन्तनी उपदेश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006 पृ. 84
4. सं. परमानन्द श्रीवास्तव : महादेवी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2003 पृ. 20
5. सं. इन्द्रनाथ मदान : महादेवी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-2005 पृ. 14
6. प्रो. मैनेजर पाण्डेय : अनमे साँचा, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली पृ. 178
7. सं. प्रो. निर्मला जैन : महादेवी साहित्य समग्र-1 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2000 पृ. 49
8. महादेवी वर्मा : सान्ध्यगीत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002 पृ. 64
9. प्रो. कृष्णदत्त पालीवाल : नवजागरण और महादेवी वर्मा का रचना कर्म: स्त्री विमर्श के स्वर, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली-2010 पृ. 45
10. प्रो. मैनेजर पाण्डेय : अनभै साँचा, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली पृ. 179
11. महादेवी वर्मा: सान्ध्यगीत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2002 पृ. 62-63
12. वही पृ. 60
13. सं. प्रो. निर्मला जैन : महादेवी साहित्य समग्र-1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2000 पृ. 41
14. प्रो. कृष्णदत्त पालीवाल : नवजागरण और महादेवी वर्मा का रचना कर्म स्त्री विमर्श के स्वर, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली 2010 पृ. 96
15. गवेशणा पत्रिका (स्त्री की भाषा/महादेवी के संदर्भ में) अंक 87, 2007 पृ. 167

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

पद्मावत में लोकतत्व और भारतीय संस्कृति

मंजू चौरसिया *

लोकतत्व से आशय जन साधारण की मान्यताओं से है। यदि किसी देश की संस्कृति का वास्तविक रूप देखना हो तो वहाँ के लोक जीवन को देखलेना चाहिए क्योंकि लोक जीवन में व्याप्त विभिन्न मान्यताएँ, विभिन्न पर्वों एवं उत्सवों के रीति–रिवाज अतीत की किसी गौरवमयी वास्तविकता की ओर संकेत करते हैं। अहोई अष्टमी और करवा चौथ के पर्वों पर स्त्रियों द्वारा विशिष्ट देवियों की आकृतियाँ गृह–भित्ति पर चित्रित करने की प्रथा उत्तरी भारत में सर्वत्र देखने को मिलती है इसका धार्मिक और पौराणिक महत्त्व चाहे कुछ भी हो, किन्तु ललित कलाओं के प्रति भारतीय अभिरुचि के उत्सुकता का यह स्पष्ट निदर्शन है। लोक जीवन में स्त्रियों द्वारा बनाई गई चित्रकला तथा देवताओं की मूर्तियों से यह विदित होता है कि यथार्थ संस्कृति हमारे ग्रामीण जीवन में ही है।

प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा में लोक कथाओं के माध्यम से ही अलौकिक प्रेम की व्यंजना का विधान किया गया है। प्रेमाख्यानक कवियों ने भारतीय समाज और संस्कृति से सम्बद्ध कथाओं को अपने काव्यों में आधार रूप से प्रयुक्त किया है। जायसी का पद्मावत भी लोक जीवन से सम्बद्ध होकर ही हमारे सामने आया है। जायसी ने हिन्दू जीवन को निकट से जाना, समझा था। यही कारण है कि पद्मावत एक प्रेमाख्यान होते हुए भी सामाजिक और पारिवारिक जीवन के चित्रों से भरा पड़ा है। उसमें तत्कालीन समाज में प्रचलित जीवन शैली विभिन्न रीति–रिवाज, परम्पराएँ, लोकाचार, रूढ़ियाँ, व्रत त्यौहार आदि का वर्णन यत्र तत्र देखने को मिलता है।

पद्मावत में लोकतत्व कितना है, किस रूप में है। इसे पद्मावत में आयी हुई लोक कथाओं, भारतीय लोकाचार, भारतीय तीर्थ स्थानों और भारतीय देवी–देवताओं के चित्रण के माध्यम से समझा जा सकता है। जायसी भारतवर्ष के जन जीवन में व्याप्त विविध लोक कथाओं से भली–भाँति परिचित थे और वे इन लोक कथाओं के महत्त्व को भी जानते थे, इनके सांस्कृतिक महत्त्व को भी पहचानते थे। यही कारण है कि पद्मावत में स्थान–स्थान पर भारतीय लोक कथाओं के सन्दर्भ और उद्धरण देखने को मिलते हैं। स्पष्टत: पद्मावत में रामायण की कथा के विविध प्रसंग स्थान–स्थान पर आये हैं तो महाभारत की विविध कथाओं से भी कितने सन्दर्भ लिये गये हैं। उदाहरण के लिए ''दान करन दै दुई जग तरा।'' कहकर उन्होंने कर्ण के दान एवं त्याग की ओर संकेत किया है तो ''राहु बेधि होई अरजुन जीति द्रौपदी ब्याहु'' कहकर कवि ने अर्जुन द्वारा मत्स्य बेध कर द्रौपदी के साथ विवाह करने की कथा का उल्लेख किया है। ''धरती पाय सरग सिर, जानहुँ सहसराबाहु'' कहकर सहस्त्रबाहु अर्जुन की कथा की ओर संकेत किया है। इस प्रकार जायसी ने शकुन्तला और दुश्यन्त की कथा भी महाभारत से लेकर वर्णित किया है। इसी तरह लोक प्रचलित भागवत पुराण में वर्णित अनेक कथाएँ पद्मावत में देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसी भारतीय लोक कथाएँ भी पद्मावत में वर्णित है जो भारतीय जन जीवन से गहराई से जुड़ी हुई है। जैसे राजा भोज की कथा, राजा विक्रमादित्य की कथा, लोना चमारी की कथा, गोरख और मछन्दर की कथा आदि इसके प्रमाण है। पद्मावत में इन सभी का प्रसंगानुसार वर्णन हुआ है।

जायसी ने हिन्दू समाज में प्रचलित अनेक रीति–रिवाज एवं लोकाचार को भी लोक जीवन से ग्रहण किया है। पद्मावती के जन्म पर नामकरण व शष्ठी देवी पूजन के समय के लोकाचार दर्शनीय है—

''भै छठि राति छठि सुख मानी/रहस कूद सौरैनि बिहानी॥/भा बिहान पंडित सब आए।/काढि पुरान जनम अरथाए॥''

बसंत पंचमी की पूजा के संबंध में उन्होंने उल्लेख किया है कि–

लाल दिग्गी, मिर्जापुर
मोबाइल : 9451992155

''हरियर भूम्मि कुसुंभी चोला।
औ पिय संगम रचा हिंडोला ॥''

बसंत पंचमी आते ही पद्मावती सखियों के साथ सजधजकर शिव मण्डप में गौरी व शिव की पूजा करने जाती है। सखियों ने विविध प्रकार के फल-फूल शिव पार्वती पर चढ़ाने के लिए चुने है। वे सभी खेलती-कूदती हुई शिव मण्डप में पहुँचती है और जब वे वहाँ पहुँचती है तब विविध प्रकार के वाद्य बजते हैं। पद्मावती के विवाह वर्णन के समय तो लोकाचारों एवं रीति रिवाजों की भरमार है। विवाह की तैयारी, निमन्त्रण सम्प्रेषण, सारे राजमहल में आनन्दोत्सव, भूमि पर बिछाई जाने वाली लाल बिछावन, चन्दन के खम्भों की पंक्तियाँ और मणियों के दीपक आदि को प्रज्ज्वलित करना भी वर्णित किया गया है। बारात के राजमहल के समीप पहुँचते ही सखियों के साथ पद्मावती का भी वर देखने जाना, भाँवर पड़ना, बारातियों का विविध प्रकार के व्यजनों से स्वागत-सत्कार, कन्या की बिदाई इत्यादि भी पद्मावत में वर्णित हुए है। इन सबके अतिरिक्त हिन्दू परिवार की संयुक्त परिवार प्रथा पति-पत्नी का अटूट सम्बन्ध, पति की मरणाशंका पर जौहर व्रत आदि का भी वर्णन जायसी ने किया है।

जायसी भारतीय समाज में व्याप्त विविध विचारों से भी भली-भाँति परिचित थे। धन का महत्त्व, दान का महत्त्व, कर्म फल में विश्वास संसार को मिथ्या मानना, सत्य, प्रेम, दया, करूणा जैसे मानवीय मूल्यों का जीवन में महत्त्व इत्यादि सब बाते उनके काव्य में सामाजिक लोकाचार के रूप में चित्रित है। लोक में व्याप्त धार्मिक जीवन से भी जायसी भली-भाँति परिचित थे। हिन्दूओं के देवी-देवताओं की साज-सज्जा तक का उन्हें ज्ञान था—

''ततखन पहुँचा आई महेसू। वाहन बैल कुस्टि कर भेसू॥
सेसनाग औ कंठ माला। तन भभूति हस्ती कर छाला॥''

जायसी ने तत्कालीन समाज में व्याप्त जप, तप, साधना, हठयोग की पद्धति का भी वर्णन किया है। पाँचों कलाओं के साथ-साथ वाणिज्य, गणित, ज्योतिश, रसायन शास्त्र, वनस्पति विज्ञान, जन्तु विज्ञान, आयुर्वेद इत्यादि का भी वर्णन पद्मावती में किया गया है।

इन सबके अतिरिक्त जायसी ने भारतीय तीर्थ स्थानों और उनके महात्म्य का भी वर्णन किया है। उन्होंने तीर्थराज प्रयाग, काशी, अयोध्या, जगन्नाथपुरी, सेतुबंध रामेश्वरम्, मथुरा-वृन्दावन, द्वारिकापुरी, केदारनाथ आदि का प्रभावपूर्ण वर्णन किया है—

''जाइ केदार दाग तन कीन्हेउ, तॅह न मिलावन ऑकि।
ढूढ़ि अजोध्या सब फिरऊँ, सरग दुआरी झाँकि ॥''

भारतीय देवी-देवताओं इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी, पार्वती, सरस्वती, यक्षिणी आदि समेत तैंतीस करोड़ देवी देवताओं की लोकव्याप्त अवधारणाओं का भी इन्होंने उल्लेख किया है—

''तैंतीस कोटि देवता साजा। औ छयानवे मेघ दर गाजा॥
छप्पन कोटि बैसेदर बरा। सवा लाख परवत फरहरा॥''

इसके अलावा ईश्वर की सर्व व्यापकता, सत्य और दान का महत्व, दूसरों की भलाई, योग से सिद्धि प्राप्ति, तपस्या से अभीष्ट फल की प्राप्ति, गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा, अदृश्य शक्ति में विश्वास आदि का जायसी ने पूरी तन्मयता से वर्णन किया है। वे मुसलमान होने पर भी हिन्दुओं के रीति-रिवाज, मान्यताओं और देवी-देवताओं से भली-भाँति परिचित थे। इसलिए पद्मावत में लोकतत्व का इतना सटीक वर्णन प्रस्तुत कर सकें।

अब पद्मावत में अभिव्यक्त भारतीय संस्कृति की तरफ दृष्टि डाले तो हम देखेंगे कि पद्मावत भारतीय संस्कृति का अद्‌भुत महाकाव्य है। इसमें जायसी ने भारत के जन जीवन में व्याप्त सांस्कृतिक मान्यताओं और धारणाओं का निरूपण तो किया ही है साथ ही उन मूल्यों का भी चित्रण किया है जो भारतीय जीवन की श्रेष्ठता और उच्चता की परिचायक है। भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। भारतीय संस्कृति प्रचण्ड तूफानों में भी अपनी गरिमा की पताका फहराती रही है। जायसी के समय युगीन परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम थीं। भारतीय संस्कृति के प्रतीक अनेकानेक कलात्मक कृतियों के भण्डार हिन्दुओं के मन्दिर, भवन इत्यादि बाह्य आक्रमणकारियों द्वारा तोड़े जा रहे थे, परन्तु जन साधारण के मन में परम्परागत रूप से विद्यमान सांस्कृतिक मूल्य, नैतिक धारणा, सौन्दर्योपासक दृष्टि, मानव मात्र के प्रति मैत्रीभाव, सामाजिक जीवन के प्रति आस्था, सहिष्णुता समन्वयवादी भाव आदि को नष्ट करना सरल कार्य नहीं था। जायसी ने इसी भाव को अपनाकर पद्मावत में भारतीय परम्परा आचार-विचार मूलक संस्कृति इत्यादि को अपना कर सजीव चित्रण प्रस्तृत किया है। वास्तव में पद्मावत अपने युग का प्रेमाख्यानक मात्र नहीं है। इसमें सांस्कृतिक इतिहास की भी निश्छल अभिव्यक्ति हुई है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत यह विश्वास बहुत ही गहराई से व्याप्त है कि ईश्वर सर्वव्यापक है। वह घट-घट में समाया हुआ है। जायसी ने इस संबंध में लिखा है कि- ''परगट गुपुत सो सरब बियापी।'' भारतीय जन जीवन में सत्य को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। सम्भवत: इसी तथ्य को प्रमाणित करते हुए जायसी ने भी स्थान-स्थान पर यह उल्लेख किया है कि जहाँ सत्य है वहीं पर धर्म साथी होता है। यह सृष्टि सत्य द्वारा बँधी

हुई है। लक्ष्मी भी सत्य की दासी होती है और जहाँ सत्य होता है, वहाँ साहस से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। सत्यवादी लोग ही सत्य पुरुष कहलाते हैं और सत्य की रक्षा के निमित्त ही सतियाँ चिता पर चढ़ती है। जो सत्य की रक्षा करता है वह दोनों लोको से तर जाता है। इसी तरह भारतीय संस्कृति में दान को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। जायसी ने भी पद्मावत में दान के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि दान के समान संसार में कुछ भी नहीं है। यहाँ तो एक देने से दस गुना लाभ होता है। दानी धर्मात्मा का मुख सभी देखना चाहते हैं और दानी दोनों लोको में काम आता है। यहाँ जो दान दिया जाता है वह वहाँ परलोक में मिल जाता है और यदि कोई दान नहीं देता है तो उसका धन चोर चुरा ले जाता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य को सदैव उच्च विचार रखने चाहिए। उच्चता का ही महत्त्व होता है। इसी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर जायसी ने जीवन में उच्च पद पाने और उन्नत स्थिति प्राप्त करने की ओर संकेत करते हुए कहा है कि– ''मानव को सदैव ऊँचा बनने का प्रयास करना चाहिए, ऊँचा साहस करना चाहिए, दिन प्रतिदिन ऊँचाई की ओर ही पैर बढ़ाना चाहिए और उच्च विचार वाले पुरुषों का सत्संग करना चाहिए। इस प्रकार उच्चता का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। भारतीय संस्कृति में धन की बड़ी निन्दा की गयी है, क्योंकि इसके कारण ही मनुष्य पतन के गर्त में जा गिरता है। पद्मावत में जायसी ने कहा कि धन से अहंकार उत्पन्न होता है और लोभ बढ़ जाता है। यह लोभ विष की जड़ है। लोभ के आते ही मनुष्य में दान की प्रवृत्ति नहीं रहती और वह सत्य से बहुत दूर चला जाता है। दान और सत्य तो भाई-भाई है। इसलिए मनुष्य को हर प्रकार के लोभ और अहंकार से दूर रहना चाहिए।

भारतीय संस्कृति में तो बुरे व्यक्ति के प्रति भी भलाई करने का प्रावधान है। जायसी ने भी यही बात कही है कि जब गोरा और बादल बादशाह अलाउद्दीन के साथ छल-कपट का व्यवहार करने के लिए राजा रतनसेन को सलाह देते हैं तो रतनसेन को उनकी यह सलाह अच्छी नहीं लगती है। वह फिर भी यही कहते हैं कि– ''जहाँ मेरू तहँ अस नहिं भाई।'' अर्थात् हे भाई, जहाँ मेल है वहाँ ऐसा नहीं होता है। वह फिर कहता है कि– ''मंदहि भल जो करै भलु सोई, अंतहु भला भले कर होई॥'' अर्थात शठ के साथ जो भला करे, वही भला है क्योंकि अन्त में भले का ही भला होता है। जो शत्रु विष देकर मारना चाहे, उसे अपनी ओर से विष नहीं देना चाहिए। यही भारतीय संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति में तपस्या को विशेष महत्त्व दिया गया है और यह बताया है कि तपस्या के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है। वास्तव में भारतीय जीवन में तपस्या को एक सांस्कृतिक मूल्य के रूप में देखा गया है। भारतीय जन जीवन में देवोपासना के प्रति गहरी आस्था व्यक्त की गयी है। पद्मावती बसन्त पंचमी के शुभ अवसर पर महादेव जी का पूजा करने जाती है। अपने आराध्य देव के चरणों में गिरकर प्रार्थना करती है। इस पूजा-अर्चना के परिणाम स्वरूप उसे शीघ्र ही रतनसेन के आगमन का शुभ समाचार मिल जाता है। भारतीय संस्कृति में यह विश्वास पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रहा है कि इस सृष्टि में कहीं न कहीं कोई अदृश्य शक्ति अवश्य है। उस अदृश्य शक्ति में विश्वास करना आवश्यक है। जायसी ने इसी आधार पर लिखा है कि जब राजा रतनसेन अपने दलबल के साथ सिंहल द्वीप से चलकर चित्तौड़ को जाने लगे, तब राजा के आने का समाचार रानी नागमती को किसी अदृश्य शक्ति द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाता है। परिणाम स्वरूप उसकी विरहजनित तपन जाती रही और उसके जीवन में वर्षा ऋतु आ जाती है। भारतीय संस्कृति में उस विराट परम सत्ता को सर्वत्र व्याप्त और सर्वत्र विद्यमान माना गया है। जब कभी भी उस परम सत्ता के निवास की चर्चा हुई है तब उसके निवास को अलौकिक निवास कहा गया है। जायसी ने भी अपने पद्मावत में उस परम सत्ता के निवास को अलौकिक स्थान कहकर चित्रित किया है।

भारतीय संस्कृति में गुरु को सर्वोपरि माना गया है और उसे ईश्वर से भी महान बताया गया है। इसी आधार पर जायसी ने भी गुरु के महत्त्व को प्रतिपादति किया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पद्मावत में भारतीय संस्कृति के अनेक तत्व देखने को मिलते हैं। और साथ ही साथ विविध सांस्कृतिक मूल्यों का महत्त्व भी प्रतिपादित किया गया है। सही अर्थों में जायसी भारतीय जनमानस और भारतीय जन जीवन में व्याप्त उन सभी स्थितियों से परिचित थे जिनका संबंध हमारी भारतीय संस्कृति और लोक जीवन से था। इस प्रकार पद्मावत एक प्रेमाख्यान होते हुए भी भारतीय लोकतत्व एवं भारतीय संस्कृति से अभिसिंचित महाकाव्य है। जायसी ने इस काव्य में लोक तत्व और भारतीय संस्कृति का समावेश करके न केवल इस महाकाव्य को अन्यतम रूप दिया है बल्कि अपने उच्च विचार और सांस्कृतिक समन्वयकारी दृष्टि का भी परिचय दिया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. पद्मावत- मलिक मोहम्मद जायसी
3. हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिमूलक अभिनव इतिहास : डॉ. विवेक शंकर और श्रीमती उर्मिला साध

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

हिन्दी रंगालोचन का स्वरूप

डॉ. अल्पना त्रिपाठी*

'रंगालोचन' रंग और आलोचना से मिलकर बना है जिसका तात्पर्य है—रंगमंच के तत्त्वों की दृष्टि से आलोचना। इसके अंतर्गत किसी भी नाटक की आलोचना उसके मंचन या प्रस्तुति के आधार पर की जाती है। नेमिचंद्र जैन ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''रंगालोचन के लिए नाटक का समग्र मूल्यांकन होना चाहिए। वह मूल्यांकन है प्रस्तुति। प्रस्तुति में सभी तत्त्व आलेख, अभिनय, निर्देशक, रंगशिल्प, दर्शक आ जाते हैं। इन सबके संयोग से रंगकला जन्म लेती है। इसीलिए रंगसमीक्षा का मानदंड वे होंगे जो इस समग्रता को चिन्हित कर सकें और व्याख्यायित कर सकें।''

रंग तत्त्वों की जैसी समृद्ध परम्परा संस्कृत नाटकों में दृष्टिगत होती है बाद के वर्षों में उसका तेजी से ह्रास होता है। यद्यपि इस बीच मध्यकाल में लोकनाट्य के रूप में रंगमंच की कुछ अन्य शैलियाँ विकसित होती हैं। पर वह संस्कृत नाटकों जैसे वैभव को न प्राप्त कर सकीं। हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में जब भारतेंदु का उदय होता है तो एक नयी दृष्टि उभरती है। जो भारतीय एवं पश्चिमी रंगतत्त्व का मिला जुला रूप है। भारतेंदु ने हिंदी नाटकों के लिए एक नए रंगमंच की आवश्यकता अनुभव की। इस विषय में जयदेव तनेजा लिखते हैं, ''आपने हिंदी नाटककार और रंगमंच के नए रिश्ते की तलाश की और सार्थक एवं गंभीर रंगकर्म का आधारशिला रखी।''[1] परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के कारण वह अपेक्षित सफलता को न प्राप्त कर सका। आगे चलकर प्रसाद ने एक नई नाट्य शैली की खोज का प्रयास किया। लेकिन वह अपने नाटकों को व्यावहारिक रंगकर्म से न जोड़ सकें। पारसी रंगमंच के विरोध के बाद भी वह पारसी रंगमंच की शैली से स्वयं के नाटकों को मुक्त न कर सकें। उनके नाटकों की अभिनेयता के प्रश्न ने भी रंगकर्मियों को उसके मंचन के प्रति उदासीन रखा। अत: इस कालखण्ड में भी रंगकर्म की कोई स्पष्ट अवधारणा न विकसित हो सकी।

रंगमंच की कला की दृष्टि से वास्तविक नवोन्मेष प्रारंभ हुआ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद। इस युग में नवीन युग की भावनाओं के अनुरूप कुछ श्रेष्ठ नाटक लिखे गये और उनके मंचन के सार्थक प्रयास भी हुए। इनमें जगदीश चंद्र माथुर के 'कोणार्क' और धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' नाटक का नाम उल्लेखनीय है। इन नाटककारों के दृष्टिकोण ने हिंदी रंगमंच के स्वरूप निर्धारण में मुख्य भूमिका निभाई। इस विषय में जयदेव तनेजा लिखते हैं, ''कोणार्क के परिशिष्ट (1) में प्रस्तुत 'निर्देशक और अभिनेताओं के लिए संकेत, अंधायुग की भूमिका और मादा कैक्टस के साथ प्रकाशित 'निर्देश' तथा रंगमंच के उपरान्त में शास्त्र और व्यवहार समन्वित उस नये रंगबोध और स्वस्थ-संतुलित दृष्टिकोण के सूत्र एवं प्रमाण साफ तौर पर देखे जा सकते हैं जो नये हिंदी रंग-कर्म की आधारशिला बने।''[2]

इसी कालखण्ड में विज्ञान और तकनीक के अभूतपूर्व विकास ने रंगमंच को कलात्मक प्रस्तुति के लिए अवसर प्रदान किया। कुछ मंजे हुए निर्देशकों का भी उदय हुआ। जिन्होंने रंगमंच पर हिंदी नाटकों का एक नया रूप प्रस्तुत किया। रंगमंच के इस उत्थान क्रम में कुछ रंगालोचकों ने रंगमंच की कला के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर विचार किया। इसके साथ ही आलेख और प्रस्तुति एवं नाटककार तथा निर्देशक के संबंधों को सकारात्मक दृष्टि से विवेचित किया गया। इनके सिद्धांतों ने रंगमंच की आलोचना की दिशा में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। इन आलोचकों में वीरेन्द्र नारायण, नेमिचन्द्र जैन, सिद्धनाथ

संपर्क : डी 503, बी ब्लॉक, तालपुरी कॉलोनी, भिलाई (छ.ग.)
मोबाइल : 7489164100
ई-मेल : alpanadeepak26@gmail.com

कुमार, जयदेव तनेजा, देवेन्द्र राज अंकुर आदि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। इन रंगालोचकों ने रंगमंच की कला में निर्देशक अभिनेता, दृश्यबंध, रूपसज्जा, ध्वनि एवं प्रकाश व्यवस्था, दर्शक आदि की भूमिका पर विचार किया है।

नेमिचन्द्र जैन नाटक और रंगमंच के संबंधों पर विचार करते हैं। उनका मानना है कि प्रदर्शन नाटक को पूर्णता देता है और विशेष अर्थवान बनाता है। रंगमंच की समृद्धता और संसाधनों का भरपूर प्रयोग एवं प्रयोगशीलता नाटक को विशिष्ट बना देते हैं। रंगमंचीय दृष्टि के अभाव से नाटकों के विकास पर प्रतिकूल असर पड़ता है। नेमिचन्द्र जैन के अनुसार रंगमंचीय साधनों के अभाव के कारण ही हिंदी नाटक ठीक से विकसित नहीं हो सके। उनके शब्दों में, ''हमारे देश में नाटक लेखन की दुर्बलता प्रदर्शन के साधनों और परिस्थितियों की अविकसित और अपर्याप्त अवस्था से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। हिंदी नाटक तो ठीक से विकसित ही आधुनिक रंगमंच के अभाव के कारण न हो सका।''[3]

हिंदी रंगमंच का आरंभिक स्वरूप पारसी रंगमंच से प्रभावित रहा। प्रसाद के नाटकों पर भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। नेमिचंद्र जी के अनुसार यदि प्रसाद के सामने हिंदी का अपना कोई मौलिक रंगमंच होता तो उनके नाटकों की कलात्मकता और मंजी एवं विश्वसनीय होती। रंगमंचीय दृष्टि का अभाव वह आजादी के बाद के कई वर्षों तक देखते हैं जिसके कारण हिंदी नाटक अपना कोई व्यक्तित्व और स्वरूप नहीं प्राप्त कर सका। इधर हिंदी रंगमंच विकसित तो हुआ है पर उसकी कई समस्याएँ भी हैं। नेमिचंद्र जी के मत में, ''श्रेष्ठ नाटक-लेखन के लिए प्रस्तुतीकरण के रूप और स्तर का विकसित तथा समृद्ध होना ज़रूरी है।''[4] वह रंगमंच की कला के तीन बुनियादी और महत्त्वपूर्ण पक्ष मानते हैं वह है— निर्देशक, रंग शिल्प और अभिनय। इन तीनों की विशेषताओं उसकी बारीकियों एवं जटिलताओं पर गंभीरता से विचार कर हिंदी रंगमंच के विकास को एक नयी दिशा दी जा सकती है।

आधुनिक नाटक की प्रस्तुति में निर्देशक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आधुनिक युग में जब रंगमंच पर कई तरह के शिल्पगत तकनीक का प्रयोग कर उसे विशिष्ट कलात्मक रूप दिया जा रहा है तो उनकी प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिए निर्देशक की भूमिका भी बढ़ जाती है। निर्देशक ही रंगमंच की कला के विभिन्न सूत्रों को आपस में पिरोकर उन्हें एक समन्वित कला रूप का दर्जा देता है। नेमिचन्द्र जी के अनुसार, ''निर्देशक ही रंगशिल्प के अन्य तत्त्वों को अभिनेताओं की मुखसज्जा, वेश-भूषा, दृश्यबंध, प्रकाश योजना और ध्वनि तथा संगीत योजना को भी अपनी पूर्व कल्पित और नाटक के स्वीकृत अर्थनिर्णय से जुड़ी हुई अन्विति में बांधता है, और इस प्रकार एक समग्र समन्वित प्रभाव दर्शक तक सम्प्रेषित करता है।''[5]

निर्देशक एक ही नाटक को अपनी रूचि के अनुसार अलग-अलग तरह से प्रस्तुत करता है जिससे उस नाटक की नई अर्थछवियाँ खुलती हैं। हिंदी नाटकों की बहुविध प्रस्तुतियाँ निर्देशकों की अपनी सृजनात्मक क्षमता एवं रूचियों के कारण ही हुई हैं। नेमिचन्द्र जी के अनुसार हिंदी नाटकों को कुछ अच्छे निर्देशक प्राप्त हुए जिनके कारण रंगमंच का पर्याप्त विकास हुआ।

इस तरह नेमिचन्द्र जी निर्देशक के लिए कल्पनाशीलता एवं सृजनात्मक समझ का होना अनिवार्य समझते हैं जो नाटक की नयी संभावनाएँ उजागर कर सके। निर्देशकों ने अपने प्रदर्शनों में आधुनिकता के साथ पारम्परिक और लोकमंच की शैलियों का भी प्रयोग किया है। इससे नाटक की पहुँच व्यापक जनसमुदाय तक हुई है। नेमिचन्द्र जैन इस तरह की प्रयोगशीलता का समर्थन करते हैं। वह निर्देशक के लिए ऐसे प्रयोगों को करने का आग्रह करते हैं जिनकी प्रस्तुति से दर्शकों का अधिक तादात्म्य हो सके। रंगमंच में नृत्य, गीत एवं अन्य लोकशैलियों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं, ''हमारे देश में नाट्य प्रदर्शन के विकास के लिए निर्देशक के ये सब प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।''[6]

रंगमंच के संबंध में वह रंगशिल्प पर भी विचार करते हैं। रंगशिल्प के अन्तर्गत उन्होंने दृश्यबंध, वेश-भूषा, प्रकाश योजना एवं संगीत योजना आदि की चर्चा की है। नेमिचन्द्र जैन के अनुसार पारसी रंगमंच की दृश्य सज्जा में अतिरंजना और तड़क-भड़क की प्रधानता थी जिसका नाटक की भाव-वस्तु से मेल नहीं होता था। हिंदी के शुरू के नाटकों पर इस प्रवृत्ति का प्रभाव रहा। आगे चलकर 'इप्टा' (जन नाट्य संघ) ने नाटक की विषय वस्तु और अभिनेता की क्षमता पर बल देकर नाटकों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति की। इनकी रंग-चेतना में सादगी का आग्रह था। रंगमंच ने अपने विकास क्रम में दृश्यबंध की स्वाभाविकता पर बल दिया।

प्रकाश एवं संगीत के आधुनिक उपकरणों ने नाटक के मंचन को अधिक विश्वसनीय और सम्प्रेषणीय बनाया। आधुनिक रंगमंच में रंगशिल्प के सभी घटकों का सामंजस्यपूर्ण उपयोग

कर मंचन को और प्रभावशाली बनाया गया। इस बारे में नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं, ''इस प्रक्रिया में दृश्यबंध, वेश-भूषा और प्रकाश योजना तीनों आकारों, रेखाओं, समूहों, रंगों, छायाओं और आलोक-पुंजों की एक समग्र समन्वित परिकल्पना में अन्तर्ग्रथित हो गये।''[7] इस तरह इन युक्तियों के प्रयोग से नाटक के समन्वित, समग्र प्रभाव को तीव्र और सघन करना संभव हो सका।

इधर हिंदी रंगमंच पर निर्देशकों ने दृश्य सज्जा को अधिक व्यावहारिक और व्यंजनापूर्ण बनाया है। इन्होंने अपनी कल्पनाशीलता के द्वारा मंचन के कई नये आयाम प्रस्तुत किये हैं। इसकी प्रशंसा करते हुए नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं, ''रंगशिल्प की दृष्टि से भारतीय और हिंदी रंगमंच में कल्पनाशीलता और सूक्ष्मता पहले से बहुत बढ़ गयी है, जिसके फलस्वरूप प्रदर्शन कहीं अधिक कौशलपूर्ण कलात्मक, स्तरीय और प्रभावी हो सके हैं।''[8]

नेमिचंद्र जैन ने रंगमंच के तत्त्वों में सबसे अधिक महत्त्व अभिनय को दिया है। वह अभिनय को प्रदर्शन का मूलभूत अंग मानते हैं। जिसके इर्द-गिर्द सब कुछ टिका है। नेमिचंद्र जैन ने लिखा है, ''निर्देशक तथा रंगशिल्पी सभी का प्रयास अन्ततः अभिनेता के सृजन-कार्य को अधिक से अधिक समझ, अभिव्यंजनापूर्ण और प्रभावी बनाने के लिए ही होता है।''[9]

नाटक अथवा रंगमंच के अन्य सारे तत्त्व चाहे कितने ही सशक्त क्यों न हो कुशल अभिनेता के बिना वह कोई कलात्मक प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकते। नेमिचंद्र जैन इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि हमारे देश में प्रतिभावान अभिनेता होने के बावजूद भी कुशल प्रशिक्षण के अभाव में उनका अभिनय निष्प्रभावी ही रह जाता है।

आधुनिक रंगमंच पर अभिनय की परम्परा संस्कृत रंगमंच की अभिनय पद्धति और लोकनाट्य परम्परा की शैली से बहुत अलग है। नेमिचंद्र जैन के अनुसार यथार्थवादी प्रवृत्तियों के दबाव के कारण पुरानी शैलियों की कृत्रिमता अतिरंजना को छोड़कर सहजता, स्वाभाविकता, चरित्र तथा व्यवहार के गहरे सत्य को अभिनय में लाने का प्रयास हुआ। इसके बाद भी वह अभिनय कला को बहुत पिछड़ा हुआ मानते हैं। वह अभिनेताओं में परिश्रम की कमी, अनुशासन का अभाव और अति आत्मविश्वास को अभिनय की विफलता का कारण मानते हैं। अभिनय के प्रति गंभीर न होने से ही उनका प्रदर्शन ऊपरी और सतही रह जाता है। नेमिचंद्र जैन लिखते हैं, ''देश के अधिकांश भागों में, हिंदी नाटकों में आज जो अभिनय का रूप है उसमें कोई शैली नहीं है, और न वह विभिन्न प्रकार के नाटकों और उनमें अभिव्यक्त संश्लिष्ट जटिल अनुभूतियों को मूर्त करने में ही बहुत समर्थ सिद्ध होता है।''[10] उचित प्रशिक्षण, जीवन के अनुभव की गहराई, अपने शरीर पर नियंत्रण रखकर अभिनय के स्तर को सुधारा जा सकता है। नेमिचंद्र जैन के अनुसार हिंदी रंगमंच पर कुछ अभिनेताओं ने अपना कार्य संतोषजनक ढंग से किया है जिनमें एस.एम. जहीर, पंकज कपूर, एम. के. रैना अमरीश पुरी, सुरेखा सीकरी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

वस्तुतः रंगमंच को प्रभावशाली बनाने के लिए नेमिचंद्र जैन उसके विभिन्न घटकों में सामंजस्य पर बल देते हैं जिससे वह एक समर्थ अभिव्यक्ति की विधा बन सके।

प्रसिद्ध रंगालोचक गोविन्द चातक ने नाट्य कला को एक वृहत्तर इकाई के रूप में प्रस्तुत किया है जहाँ आलेख और प्रस्तुति अलग-अलग न होकर एक दूसरे से संबंधित हैं। आलेख और प्रस्तुति को सर्वथा भिन्न मानकर देखने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए वह कहते हैं भारतीय आचार्यों की दृष्टि नाट्य कला के विविध आयामों को सम्मिलित करके चलती है। जिसके अन्तर्गत नाना भाव सम्पन्न इतिवृत्त, अनुकरण, रूपायन प्रदर्शन और रस-भोक्ता दर्शक आदि सभी हैं। अरस्तू का काव्य सिद्धांत नाट्य कृति को ही अपने में पूर्ण कला मानता है। यह मान्यता कई सारे भ्रमों को जन्म देती है। वस्तुतः आलेख और प्रस्तुति दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। गोविन्द चातक के अनुसार, ''वस्तुतः नाट्य लेखन, अभिनय, निर्देशन, दृश्य सज्जा आदि अलग-अलग कलाएँ नहीं हैं, नाट्य या रंगमंच कला के अंग मात्र हैं।... नाटक को एक और रंगमंच को दूसरी कला मानकर चलना ठीक नहीं। दोनों मिलकर एक ही कला को जन्म देते हैं चाहे उसे 'नाट्य कला' कहा जाय या रंगमंच कला।''[11]

रंगमंच की कला में कई तत्त्वों का योगदान होता है जिनके सामंजस्यपूर्ण उपयोग से उसकी प्रस्तुति प्रभावशाली बनती है। रंगमंच कला के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए गोविन्द चातक लिखते हैं, ''रंगमंच की कला एक समग्र सर्जन है। प्रस्तुतीकरण ही यह सर्जन है। वस्तुतः रंगमंच की कला नाटक के प्रस्तुतिकरण की कला है जिसका मूलाधार दृश्यत्व और उसमें निहित रस का आस्वादन है।''[12]

गोविन्द जी ने रंगमंच के सर्जकों में अभिनेता परिचालक और अभिकल्पक के महत्त्व को विस्तार से स्पष्ट किया है। निश्चय ही नाटक में शब्द का विशेष महत्त्व है जिससे नाटककार

का भाव सम्प्रेषित होता है''किंतु रंगमंच उससे भी परे अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों का प्रयोग करता है। ये माध्यम हैं—दृश्य, गति, भंगिमा, क्रिया, वेश-भूषा आदि जिनको मंच पर सर्जित करना पड़ता है और इसके सर्जक कलाकार है—अभिनेता, अभिकल्पक और परिचालक आदि।''

अभिनेता नाट्याभिव्यक्ति का सबसे मुख्य पात्र है। वही नाटककार के शब्दों में प्राण भरता है। उसके मंतव्य को अपने बहुविध अभिनय द्वारा मूर्त करता है। गोविन्द चातक के अनुसार, ''वस्तुत: अपनी आंगिक चेष्टाओं, वाणी, वेशविन्यास के माध्यम से वह नाटककार द्वारा सर्जित कथावस्तु पात्र और भाव को रूपायित कर प्रेक्षक को रस की स्थिति की ओर ले जाने में प्रमुख रूप से सहायक होता है, इसीलिए उसे अभिनेता कहा जाता है।''[13]

अभिनय कला के दो मुख्य तत्त्व हैं—मूकाभिनय और वाणी। मूकाभिनय शरीर के हाव-भाव, गति आदि से संबंधित होता है और वाणी मुख द्वारा ध्वनि के विविध रूपों की अभिव्यक्ति से संबंधित है। अभिनय में शारीरिक अभिनय के साथ वाणी की भी विशेष भूमिका है। अभिनेता वाणी के उतार-चढ़ाव के द्वारा भावाभिव्यक्ति करता है और अभिनय को जीवंत बनाता है। इस बारे में गोविन्द चातक लिखते हैं, ''कोमल मध्यम, कर्कश, धीमी द्रुत और ऊँची आदि वाणी की अनेक विशेषताएँ पात्र की भूमिका के निर्वाह और आत्माभिव्यक्ति में अनेक प्रकार से सहायक होती है। अभिनेता के स्वर-लय का विशेष महत्त्व होता है।''[14]

अभिनय की जीवतंता के लिए चातक जी संवाद और भाव मुद्रा के समन्वय पर बल देते हैं। इसके अतिरिक्त अभिनेता की वाणी का उसके चरित्र और स्थितियों के अनुरूप होना भी आवश्यक है। एक सामान्य से वाक्य को बोलने के लहजे मात्र से उसका अर्थ बदल जाता है और उसके द्वारा कई तरह के भाव संप्रेषित किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से अभिनय में वाणी का विशेष महत्त्व है।

अभिनय के संबंध में गोविन्द चातक इस प्रश्न पर भी विचार करते हैं कि क्या अभिनेता को 'भाव' को भीतर से महसूस करना चाहिए अर्थात् पूरी तरह डूब जाना चाहिए? अगर वह ऐसा करता है तो अभिनय में ही बाधा उत्पन्न हो सकती है। इसका समाधान करते हुए गोविन्द जी कहते हैं, ''वस्तुत: रंगमंच की पूरी कला सत्याभास की कला है। इसलिए अभिनेता का कार्य नाट्य-व्यापार को स्वानुभूत करना नहीं है—उसका आभास देना मात्र है। अभिनेता वास्तव में वह आदमी नहीं बन जाता जिसकी वह भूमिका निभाता है। वह केवल दूसरों को दिखाता भर है कि वह अमुक पात्र है। यह रूपान्तरण मात्र है अनुकृति नहीं।''[15]

प्रेक्षक को अभिनेता की चेष्टा व्यावहारिक लगे इसी में अभिनय कला की सफलता है। अभिनय कला की सफलता के लिए अभिनेता का व्यक्तित्व एवं उसके लौकिक अनुभव, पर्यवेक्षण शक्ति अनिवार्य है। इस विषय में गोविन्द जी लिखते हैं, ''यद्यपि अभिनय के लिए जन्मजात क्षमता अनिवार्य है पर प्रशिक्षण और अभ्यास उसे दीप्ति और युक्ति प्रदान करते हैं।''[16]

रंगमंच की कला में अभिकल्पक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाटक की प्रस्तुति में अलग-अलग उद्देश्य से कई अभिकल्पकों की ज़रूरत पड़ती है। आधुनिक प्रस्तुतियों में रंगमंच पर दृश्यबंध, दृश्यसज्जा, रंगदीपक, रूपसज्जा तथा वेश-विन्यास जैसे कई युक्तियों, का प्रयोग करना पड़ता है जिनको सृजित करने में अभिकल्पक की विशेष भूमिका होती है। दृश्य-विधान के महत्त्व को रेखांकित करते हुए गोविन्द जी लिखते हैं, ''दृश्य-विधान नाटक को दृश्यत्व से भरपूर करता है। दृश्य सज्जाकार अपनी दृश्य योजना से अभिनेता के लिए आवश्यक वातावरण निर्मित करता है। इस वातावरण के निर्माण के आधार पर मंच पर देश और कला का सत्याभास प्रस्तुत

हिंदी रंगमंच का आरंभिक स्वरूप पारसी रंगमंच से प्रभावित रहा। प्रसाद के नाटकों पर भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। नेमिचंद्र जी के अनुसार यदि प्रसाद के सामने हिंदी का अपना कोई मौलिक रंगमंच होता तो उनके नाटकों की कलात्मकता और मंजी एवं विश्वसनीय होती। रंगमंचीय दृष्टि का अभाव वह आजादी के बाद के कई वर्षों तक देखते हैं जिसके कारण हिंदी नाटक अपना कोई व्यक्तित्व और स्वरूप नहीं प्राप्त कर सका। इधर हिंदी रंगमंच विकसित तो हुआ है पर उसकी कई समस्याएँ भी हैं।

नाट्य-प्रस्तुति में निर्देशक की भूमिका काफ़ी महत्त्वपूर्ण होती है। सबसे पहले उसके सामने नाटक के चुनाव का प्रश्न होता है फिर प्रस्तुति के संबंध में उसे दर्शकों की रूचियों का भी ध्यान रखना पड़ता है। दर्शक रंगमंच तक जाता है निर्देशक के प्रति विश्वास लेकर। अत: प्रस्तुति सफल हो इसकी पूरी जिम्मेदारी भी उसी की होती है।

किया जाता है।''[17]

अभिकल्पक के लिए कुछ विशेष गुण उन्हें अपेक्षित है ताकि वह अपनी दृश्य सज्जा के द्वारा नाटक के भावार्थ को कुशलता से मूर्त कर सके। ''अभिकल्पक के लिए विशेष रंगदृष्टि और कल्पना-शक्ति आवश्यक होती है। सही अर्थों में एक सर्जक कलाकार होने के लिए उसे रूप, रेखा और रंग का ज्ञान होना चाहिए।''[18]

प्रत्येक रंग किसी न किसी भाव और स्थिति का प्रतीक होता है। इन रंगों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता है जिसका अभिनेता की मन:स्थितियों से सीधा संबंध हैं अत: अभिकल्प को समुचित रंग-बोध होना चाहिए ताकि उनके प्रयोग से वह वांछित अर्थ को उभार सके। नाट्य शैली के अनुरूप दृश्यसज्जा भी कई प्रकार की होती है जैसे—स्थायी दृश्यबंध, एकल दृश्यबंध, बहु दृश्यबंध आदि। अभिकल्प को इन बहुविध दृश्यबंध से परिचित होना चाहिए।

आधुनिक रंगमंच की दृश्य अभिकल्पना में रंगदीपन अर्थात् प्रकाश व्यवस्था की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। प्रकाश की विशेषता बताते हुए गोविन्द जी लिखते हैं, ''वह वस्तुओं को दृश्य बनाता है।''[19]

मंच पर किस स्थिति को दिखलाना है, किसे धुंधला कर देना है, किसे नहीं दिखाना है इसमें प्रकाश व्यवस्था की मुख्य भूमिका है। आधुनिक युग में प्रकाश व्यवस्था से जुड़े कई यंत्रों का अविष्कार हुआ है जिनके द्वारा मंच पर रंगीन प्रकाश जलता-बुझता प्रकाश, तीव्र प्रकाश आदि कई तरह के प्रभाव पैदा किये जा सकते हैं जो नाटक के भावों को जीवंत बनाते हैं। इसी संबंध में रंगीन प्रकाश के महत्त्व को स्वीकारते हुए गोविन्द जी लिखते हैं, ''आज के रंगमंच की सबसे बड़ी उपलब्धि रंगीन प्रकाश है। रंग और प्रकाश का योग अद्‌भुत भावात्मक प्रभाव पैदा करने में समर्थ होता है।''[20]

दृश्य विधान में वेषभूषा और रूप सज्जा का महत्त्व है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इसे 'आहार्य' नाम दिया गया है। वस्त्र सज्जा के माध्यम से प्रेक्षक को पात्र की प्रतीति करायी जाती है और यह वातावरण के निर्माण में भी सहायक होती है। इससे देश-काल का भी बोध होता है। 'वस्त्र-सज्जा युग और पात्र के अनुरूप तो होनी ही चाहिए, उसकी छोटी-मोटी बारीकियाँ भी कथावस्तु, चरित्र आदि की अभिव्यक्ति में सहायक होती है, जैसे वस्त्रों का मैला फटा हुआ, अलंकृत, ढीला-ढाला या कसा हुआ होना।'

रूपसज्जा के अन्तर्गत चेहरे, केश, आँख आदि की सज्जा आती है। विशिष्ट मनोभावों को प्रकट करने में रूपसज्जा की अहम भूमिका है। रूप सज्जाकार को कार्य-कुशलता के साथ नाटक की कथावस्तु चरित्र परिवेश आदि का समुचित ज्ञान होना चाहिए ताकि वह अपना कार्य सुव्यवस्थित रूप से कर सके।

रंगमंच के सर्जकों में परिचालक की भूमिका नाटककार की भांति ही महत्त्वपूर्ण है। रंगमंच से सम्बद्ध रंगकर्मियों को परिचालक ही निर्देशित कर नाटक की प्रभावशाली अभिव्यक्ति में योगदान देता है। गोविन्द चातक के अनुसार, ''लेखन का काम नाटककार का है तो प्रस्तुतीकरण की सारी दृष्टि परिचालक की होती है।''[21] निर्देशक नाट्य प्रस्तुति के विभिन्न तत्वों को अन्विति देकर उसे स्वतंत्र कलारूप का दर्जा देता है। उसकी दृष्टि किसी एक तत्त्व पर नहीं टिकी होती वरन् कथावस्तु से लेकर प्रस्तुति तक सब को एक सूत्र में पिरोकर उन्हें एक नया अर्थ देता है। इस बारे में गोविन्द चातक लिखते हैं, ''उसकी दृष्टि केवल नाट्यकृति पर ही नहीं, वरन् दृश्य-सज्जा, शैली, प्रेक्षक और निहितार्थ के पूरे क्षितिज पर होती है। वह नाट्यकृति का भाष्यकार और पुन:सर्जक दोनों होता है।''[22]

अत: गोविन्द चातक रंगमंच के सभी सर्जकों में आपसी समझदारी और एकता पर बल देते हैं। रंगमंच की सर्जन प्रक्रिया में नाटककार, अभिनेता, दृश्य-सज्जाकार और परिचालक सभी सहयोगी और समभागी कलाकार हैं। इनके सहयोगी प्रयास से ही एक विशिष्ट शैली का जन्म होता है। गोविन्द जी के अनुसार, ''उन सबमें दृष्टि की एकता और समग्रता हो तभी रंगमंच एक समग्र अनुभव दे सकता है।''[23]

प्रसिद्ध रंगालोचक वीरेन्द्र नारायण नाट्य-प्रदर्शन को सामूहिक सृजनात्मक अभिव्यक्ति की कला मानते हैं। जिसमें कई तत्त्वों का योग होता है। जो आपस में मिलकर एक समग्र प्रभाव की सृष्टि करते हैं। रंगमंचीय तत्त्वों के अलावा नाट्य प्रदर्शन काव्यत्व अर्थात् साहित्यिक गुणों से भी आविष्ट होता है। दोनों की एकता पर बल देते हुए वीरेन्द्र जी लिखते हैं, ''दरअसल नाट्य-प्रदर्शन ऐसी कला है जिसमें दृश्यत्व और काव्यत्व फूलों के रूप-रंग और गंध के समान एक दूसरे से अविच्छिन्न रहते हैं।''[24]

एक नाट्य-प्रदर्शन कई लोगों के सृजनात्मक योगदान से मूर्त होता है। इसी अर्थ में नाटक अन्य कलाओं से भिनन है। नाट्य-प्रदर्शन की सामूहिक सृजनात्मक प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए वीरेन्द्र जी कहते हैं, ''नाटक की रचना लेखक द्वारा होती है। एक निर्देशक और उसके साथ अभिनेता -अभिनेत्रियों का दल उस कृति से संबद्ध होता है। नाटक का रिहर्सल शुरू

होता है। आवश्यकता हुई तो किसी संगीतकार की भी सहायता ली जाती है। फिर दृश्यबंध की परिकल्पना होती है। प्रदर्शन के समय प्रकाश-व्यवस्था, रूपसज्जा और वेश-भूषा का योगदान होता है। तब कहीं वह स्थिति आती है जब दर्शक नाटक देख सकता है।''[25]

नाट्य-प्रस्तुति में निर्देशक की भूमिका काफ़ी महत्त्वपूर्ण होती है। सबसे पहले उसके सामने नाटक के चुनाव का प्रश्न होता है फिर प्रस्तुति के संबंध में उसे दर्शकों की रूचियों का भी ध्यान रखना पड़ता है। दर्शक रंगमंच तक जाता है निर्देशक के प्रति विश्वास लेकर। अत: प्रस्तुति सफल हो इसकी पूरी जिम्मेदारी भी उसी की होती है। वीरेन्द्र जी के अनुसार निर्देशक नाटक को नया अर्थ देता है। वह उसे तरह-तरह से मंचित करने की क्षमता रखता है। निर्देशक के विषय में वह कहते हैं, ''जिस प्रकार लेखक अपने बीजवस्तु को लेकर नाटक की रचना करता है उसी प्रकार निर्देशक अपने दृष्टिकोण से बीजवस्तु के एक विशिष्ट पहलू को लेकर अपने प्रदर्शन की दिशा निर्धारित करता है और प्रदर्शन के अन्य अवयवों का समुचित प्रयोग इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए करता है।''[26]

अत: प्रस्तुति के सभी अवयव जैसे दृश्यबंध, संगीत, रूपसज्जा आदि निर्देशक के दृष्टिकोण के अनुरूप गढ़े जाते हैं। अभिनेता भी इसी आधार पर कार्य करते हैं।

नाट्य-प्रदर्शन में निर्देशक के बाद अभिनेता अभिनेत्रियों का नंबर आता है। अभिनय कला में अभिनेता अपनी आवाज़ के साथ पूरे शरीर का उपयोग करता है। अभिनेता कवि रचित पात्र को अपने स्वरों के उतार-चढ़ाव, अंग संचालन आदि के द्वारा साकार करता है। वह अपनी अभिनय कला द्वारा मूल पात्र का ऐसा रूप तैयार करता है जो दर्शक को ग्राह्य हो सके। वीरेन्द्र जी दुष्यंत के चरित्र का उदाहरण देते हुए लिखते हैं, ''दुष्यन्त किस प्रकार चलता है किस प्रकार बोलता है, उसकी अंग-भंगिमा किस प्रकार की है आदि बातें अभिनेता साकार करता है। इन सभी चीजों का सृजन करता है। इस तरह दुष्यंत का ऐसा शारीरिक रूप वह तैयार करता है जो दर्शक को ग्राह्य हो सके।''[27]

रंगकर्म के विषय में वे लिखते हैं, ''नाट्य-प्रदर्शन में निर्देशक और अभिनेता-अभिनेत्री की कृतियों के अलावा जो कुछ भी देखा या सुना जाता है वह रंगकर्म का ही योगदान है।''[28]

रंगकर्म के उन्होंने चार मुख्य अंग माने हैं—(1) दृश्यबंध या सेट, (2) प्रकाश-व्यवस्था, (3) ध्वनि संयोजन और (4) रूपसज्जा तथा वेश-भूषा।

रंगकर्म के इन चारों अंगों को संक्षेप में व्याख्यायित करते हुए वीरेन्द्र जी लिखते हैं, ''पर्दा उठते ही अथवा प्रकाश आते ही जो कुछ दिखाई पड़ता है वह दृश्यबंध और प्रकाश -व्यवस्था का योगदान है। पात्रों के उच्चरित शब्दों के अलावा जो भी सुना जाता है वह है ध्वनि प्रभाव! अभिनेता-अभिनेत्रियों को पात्र के रूप में परिणत करने के लिए जिन रंग-रोगन का प्रयोग होता है, जिन पोशाकों को काम में लाया जाता है वह है रूपसज्जा और वेश-भूषा का योगदान।''[29]

दृश्यबंध के विषय में वीरेन्द्र जी कहते हैं, ''पर्दा उठते ही अभिनेता और अभिनेत्रियों के अलावा जो कुछ रंगमंच पर दिखाई देता है उसे दृश्यबंध कहते हैं।''[30] संस्कृत नाटकों एवं लोक नाट्यों में दृश्यबंध का प्रयोग बहुत कम होता था। वहाँ प्राय: दृश्यबंध का कार्य सूत्रधार द्वारा होता है। आधुनिक रंगमंच पर दृश्यबंध का प्रयोग काफ़ी बढ़ गया है। नाटक की स्वाभाविक एवं व्यावहारिक प्रस्तुति के लिए निर्देशक दृश्य-योजना पर विशेष ध्यान देने लगे हैं। वीरेन्द्र जी के अनुसार, ''दृश्यबंध का उद्देश्य है विशिष्ट आकारों और संकेतों द्वारा लेखक की कल्पना को साकार करने में अभिनेता की मदद करना। इस तरह दृश्यबंध उस वातावरण की सृष्टि करता है जिसमें अभिनय का वह विशिष्ट अंग सबसे अच्छा और प्रभावशाली बन सके तथा सृजनात्मक प्रक्रिया की अनुभूति को दर्शकों तक पहुँचाने में सहायक हो।''[31]

दृश्यबंध के संबंध में वीरेन्द्र जी एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं। रंगमंच पर दृश्यबंध का उद्देश्य मात्र अभिनय को सार्थक पृष्ठभूमि प्रदान करना है। दृश्यबंध इतना तड़क-भड़क वाला न हो कि दर्शक नाटक भूलकर सिर्फ़ सेट को ही याद रखे। यहीं पर चित्रकार की रचना और दृश्यबंध की योजना का फ़र्क़ भी समझ में आता है। चित्रकार की कृति अपने आप में एक संपूर्ण इकाई है। उसे किसी अन्य तत्व की दरकार नहीं। जबकि दृश्यबंध की योजना ही इसलिए की जाती है कि उसकी पृष्ठभूमि में अभिनेता-अभिनेत्री अपने भावों को जीवंत रूप में अभिव्यक्त करें। वीरेन्द्र नारायण के अनुसार, ''इस तरह दृश्यबंध एक संपूर्ण कलाकृति का अंग है जिसकी सार्थकता और सुंदरतम प्रभाव के लिए अन्य अंगों की भी अपेक्षा रहती है।''[32]

अच्छे दृश्यबंध के कुछ ख़ास गुण भी होते है। वीरेन्द्र नारायण के अनुसार सबसे पहला गुण तो यह है कि, ''अच्छे दृश्यबंध में अभिव्यक्ति होनी चाहिए। घटनाक्रम की दृश्यात्मक पृष्ठभूमि तैयार कर नाटक के मूल विचार और संकेत को

सशक्त रूप से प्रस्तुत करने की क्षमता दृश्यबंध में होनी चाहिए।''[33] दूसरे गुण के विषय में कहते हैं कि ''दृश्यबंध आकर्षक होनी चाहिए। विभिन्न आकारों और रंगों के सहारे जो पृष्ठभूमि तैयार होती है वह देखने में आकर्षक भी होनी चाहिए।''[34] इस संबंध में सेट निर्मित करते समय वस्तुओं के औचित्य पर ध्यान रखना चाहिए। फालतू चीजें हटा दी जाएँ। विभिन्न वस्तुओं को सजाते समय उनमें एक संतुलन भी हो। तीसरे गुण के विषय में वह कहते हैं उसमें दूर से देखे जाने की क्षमता हो। वस्तुओं का संयोजन इस तरह से किया जाय कि दर्शक को दिख सकें अन्यथा सारा श्रम व्यर्थ चला जाता है। इसके अतिरिक्त सादगी भी दृश्यबंध का एक आवश्यक गुण बन जाती है। इसमें आर्थिक नुकसान भी कम होता है।

आधुनिक रंगमंच पर प्रकाश-व्यवस्था का भी बड़ा महत्त्व है। रंगमंच पर विभिन्न स्थितियों को निर्मित करने एवं विशिष्ट भावदशाओं को प्रकाशित करने में प्रकाश-व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। स्वगतोक्ति की घटना को मूर्त करने में प्रकाश-व्यवस्था का सहारा लिया जाता है। इस प्रक्रिया में मंच पर पात्र आत्मस्थ हो जाता है और उसके सिवा अन्य किसी पात्र का अस्तित्व नहीं होता। ''प्रकाश-व्यवस्था के कारण आज यह काम बहुत ही आसान हो गया है। जिस पात्र को स्वगत कहना है वह अपेक्षाकृत अधिक प्रकाशित स्थान पर आ जाता है। अन्य पात्रों पर पड़ने वाला प्रकाश कम हो जाता है।''[35]

प्रकाश-व्यवस्था के द्वारा दृश्यों को सुखांत अथवा दुखांत बनाया जा सकता है। लाइट का तेज अथवा धीमा करके, उसके रंगों में परिवर्तन करके वांछित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। वीरेन्द्र जी के अनुसार 'प्रकाश व्यवस्था को सुचारू ढंग से संचालित करने के लिए प्रशिक्षित और अनुभवी सर्जक होना चाहिए। अन्यथा वह इसका बेतुका उपयोग कर दर्शक का ध्यान चमत्कार पर ही केन्द्रित कर देगा।' वीरेन्द्र जी के शब्दों में ''सृजनात्मक प्रक्रिया में इनका जैसा भी उपयोग हो सकता है वही होना चाहिए अन्यथा लोगों को जादूगरी का आभास तो मिलेगा, नाटक के रसास्वादन में सहायता नहीं मिलेगी।''[36]

रंगमंच पर ध्वनि योजना का प्रयोग पुराने नाटकों में भी मिलता है। आधुनिक रंगमंच पर ध्वनि-व्यवस्था को कई तरह से प्रयोग में लाया जा रहा है। ध्वनि प्रभाव का प्रयोग दो तरह से किया जा सकता है—यथातथ्यवादी और अयथातथ्यवादी। ''यथार्थवादी प्रयोगों में ध्वनियों के प्रकृत रूप का निरूपण किया जाता है। जैसे—नेपथ्य में भिखारी गीत गाता हुआ जा रहा है तो उसका गीत किसी टेपरिकॉर्डर अथवा ग्रामोफोन के सहारे बजा दिया जाए।''[37]

अयथातथ्यवादी प्रदर्शन में यह आवश्यक नहीं ध्वनियों के प्राकृत रूप का प्रयोग किया जाए। यह सांकेतिक भी होती है। उदाहरण के तौर पर ''यदि निर्देशक चाहे तो बादलों की गरज के समय यथातथ्यवादी ध्वनि-प्रभाव के बदले मृदंग की गड़गड़ाहट भी प्रस्तुत कर सकता है जो बादलों की गरज तो नहीं बल्कि उसकी ओर संकेत करेगी।''[38]

ध्वनि-व्यवस्था का उपयोग विशेष स्थिति के मूड को उजागर करने में भी किया जाता है। आधुनिक रंगमंच पर इसका खूब प्रयोग हो रहा है। करुणाजनक स्थिति में नेपथ्य से दर्दभरे संगीत का उभारना, मौसम विशेष की सृष्टि में किसी पंछी की आवाज को उभारना आदि ऐसे ही उदाहरण है। वीरेन्द्र जी के अनुसार प्रदर्शन के सिलसिले में ऐसे प्रयोगों में विशेष सूझ-बूझ और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है अन्यथा ''उचित मात्रा में इनका उपयोग न हुआ तो सारा संतुलन ही बिगड़ जाएगा और रसोत्पत्ति में बाधा ही पड़ेगी।''[39]

रंगकर्म में वेशभूषा और रूपसज्जा का भी विशेष महत्त्व है। वेशभूषा के चयन में कुछ विशेष पात्रों का ध्यान रखना ज़रूरी है। पात्र की उम्र दर्शाने में वेशभूषा और रूपसज्जा से मदद मिलती है। पात्र की सामाजिक अवस्था एवं उसकी मनोदशा के निरूपण में वेशभूषा की भूमिका होती है। इसके अलावा वेशभूषा से देशकाल का भी बोध होता है। वीरेन्द्र जी के अनुसार वेशभूषा के चयन में प्रकाश-व्यवस्था एवं दृश्यबंध को भी ध्यान में रखना चाहिए। दृश्यबंध और प्रकाश-व्यवस्था में रंगों का संयोजन इस तरह से हो कि वेश भूषा उभर सके और साथ ही दूर बैठे दर्शक को स्पष्ट दिखाई भी दे।

अत: वीरेन्द्र नारायण श्रेष्ठ रंगकर्म के लिए सभी तत्त्वों में सामंजस्य एवं उनके सर्जकों के लिए प्रशिक्षित होना तथा रंगमंचीय सूझबूझ अनिवार्य मानते हैं। रंगमंच के सभी तत्त्व मिलकर ही एक सृजनात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

महेश आनंद भी नाटक को साहित्यिक और रंगमंचीय दो अलग खानों में बाँटकर देखने का विरोध करते हैं। उनके मत में सही नाट्यालोचन नाटक के साहित्यिक और रंगमंचीय मूल्यों को एक साथ उद्घाटित करती है। नाटक के साहित्यिक स्वर को सर्जनात्मक रंगतत्त्वों द्वारा दृश्यात्मक स्वर दिया जाता है। यही सृजनात्मक रंग तत्त्व नाटक को साहित्य की अन्य विधाओं से अलग कर उसे एक विशिष्ट आयाम देते हैं। उन्होंने नाटक के कथ्य के अनुरूप प्रस्तुति शैलियों की बात उठायी है। प्रसाद के नाटकों को उन्होंने गैर यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत

करने की बात उठायी है। उन्होंने रंगकर्म में अभिनेताओं के प्रशिक्षण पर विशेष जोर दिया है। उनका नाटक की भाषा से परिचित होना आवश्यक माना है। महेश जी दर्शक की कल्पनाशीलता पर भी बल देते हैं ताकि वह नाटक के आंतरिक अर्थ से साक्षात्कार कर सके।

देवेन्द्रराज अंकुर रंगमंच के प्रतिमानों को साहित्य की अन्य विधाओं के लिए बनाए गए प्रतिमानों से अलगाते हैं। उनका मानना है साहित्यिक प्रतिमानों यथा—भाषा, छंद, अलंकार, देशकाल से इतर रंगमंच के अपने तत्वों के प्रकाश में उसके सौंदर्य-निर्देशक, अभिनेता, रंगभूमि, दर्शक एवं अन्य रंगकर्मियों (मंचसज्जा, वेश-भूषा, प्रकाश सज्जा आदि से जुड़े) को महत्त्व देते हैं, जिनके समन्वित प्रयास से प्रस्तुति की एक सम्पूर्ण रंगभाषा जन्म लेती है। अंकुर नाटक को साहित्यिक एवं रंगमंचीय इन दो अलग रूपों में बांटकर देखने का विरोध करते हैं। इन्होंने कहानी के रंगमंच की अवधारणा भी प्रस्तुत की है।

प्राय: सभी रंगालोचकों ने रंगमंच की अवधारणा नाटक के साहित्यिक और रंगमंचीय तत्त्वों के समन्वित आलोक में प्रस्तुत की है। इन्होंने जहां प्रस्तुति से संबंधित रंग तत्त्वों यथा दृश्यबंध, प्रकाश-व्यवस्था, संगीत-ध्वनि, रूप-सज्जा, वस्त्र-सज्जा का बारीक विवेचन किया है वहीं रंगकर्म को मूर्त रूप देने वाले सर्जकों—अभिनेता, नाटककार, निर्देशक, अभिकल्पक और दर्शक की भूमिका पर भी विचार किया है। इन्होंने नाट्य के कथ्य के अनुरूप प्रस्तुति शैलियों की खोज पर भी विचार किया है। इनकी अवधारणा नाटक को वस्तु, नेता एवं रस तक ही सीमित नहीं रखती वरन उसकी प्रस्तुति से जुड़े रंग-तत्त्वों की भी विशद चर्चा करती है। रंगालोचन की अवधारणा जहाँ परम्परा से प्राप्त नाट्य प्रतिमानों को नए संदर्भों में विश्लेषित करती है वहीं पाश्चात्य प्रतिमानों को भी अपनी रंगालोचन का आधार बनाती है। इस तरह इनकी दृष्टि की व्यापकता एवं समग्रता ने हिंदी रंगालोचन के परिदृश्य को समृद्ध करने का कार्य किया है। हिंदी रंगालोचन की अवधारणा को विकसित करने वाले आलोचकों एवं रंगकर्मियों में—वीरेन्द्र नारायण, सिद्धनाथ कुमार, नेमिचन्द्र जैन, गोविन्द चातक, महेश आनंद, देवेन्द्र राज अंकुर, मुद्राराक्षस, जयदेव तनेजा आदि का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

संदर्भ

1 सं. हरिशचंद्र अग्रवाल, नाटक के सौ बरस, शिल्पायन दिल्ली, संस्करण, 2004, पृ. 443
2 जयदेव तनेजा, नयी रंग चेतना और हिंदी नाटककार, पृ. 12
3 वही, पृ. 13
4 नेमिचन्द्र जैन, रंग दर्शन, पृ. 15
5 वही, पृ. 60
6 वही, पृ. 60
7 वही, पृ. 64
8 वही, पृ. 66
9 वही, पृ. 68
10 वही, पृ. 68
11 वही, पृ. 70
12 गोविन्द चातक, रंगमंच: कला और दृष्टि, पृ. 33
13 वही, पृ. 38
14 वही, पृ. 39
15 वही, पृ. 40
16 वही, पृ. 42
17 वही, पृ. 44
18 वही, पृ. 45
19 वही, पृ. 49
20 वही, पृ. 50
21 वही, पृ. 56
22 वही, पृ. 57
23 वही, पृ. 57
24 वही, पृ. 65
25 वही, पृ. 70
26 (सं.) मंगलमूर्ति, वीरेन्द्र नारायण ग्रंथावली (भाग-2),, पृ. 19
27 वही, पृ. 20
28 वही, पृ. 37
29 वही, पृ. 22
30 वही, पृ. 25
31 वही, पृ. 25
32 वही, पृ. 25
33 वही, पृ. 40
34 वही, पृ. 40
35 वही, पृ. 42
36 वही, पृ. 29
37 वही, पृ. 30
38 वही, पृ. 31
39 वही, पृ. 31

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की काव्ययात्रा

डॉ. अवधेश त्रिपाठी *

सर्वेश्वर की काव्ययात्रा नयी कविता के आरंभिक दौर में शुरू हुई। 'तीसरा सप्तक' (1959) में उनकी कविताएं सम्मिलित की गईं। तब से लेकर आठ काव्यसंकलनों और तीन दशकों तक फैली उनकी काव्ययात्रा संवेदना, विचार, भाषा और शिल्प, सभी दृष्टियों से विकास की यात्रा है। उनकी काव्ययात्रा के मोटे तौर पर तीन दौर माने जा सकते हैं। नई कविता के दौर में लिखी गई शुरुआती कविताएं, उसके बाद साठोत्तरी काल में लिखी गई कविताएं और अंत में सन् 67–68 के बाद यथार्थ के नए तेवर वाली कविताएं। सर्वेश्वर की आरंभिक काव्यकृतियों– 'काठ की घंटियां' (1959) 'बांस का पुल' (1963) में रूमानी भावबोध अधिक है। कुछ जगह निराशा और आत्मसंघर्ष की अभिव्यक्ति वैयक्तिक धरातल पर हुई है। 'एक सूनी नाव' (1966) तथा 'गर्म हवाएं' (1969) में कवि निजी दुनिया से होते हुए एक बड़े सामाजिक–राजनीतिक दायरे तक पहुँचता है। 'कुआनो नदी' (1973) में कवि ने ग्रामीण और कस्बाई जीवन के बदहाल माहौल का चित्रण करते हुए युगीन यथार्थ को अभिव्यक्ति दी है। 'जंगल का दर्द' (1976) में फिर से व्यक्तिगत और रूमानी अनुभूतियों को व्यक्त करने वाली कविताएं हैं, लेकिन दूसरी ओर कई कविताओं में सर्वेश्वर आन्तरिक कौंध और तड़प को व्यक्त करने के लिए 'आग और रोशनी' को प्रतीक रूप में बार–बार लाते हैं। इस आग से वे भीतर–बाहर के अंधकार को दूर करके विचारों की मशाल जलाने को कृतसंकल्प हैं। 'खूंटियों पर टंगे लोग' (1982) की कविताएं अनुभूति और अभिव्यक्ति के विविध आयामों और संभावनाओं से साक्षात्कार कराती हैं। सर्वेश्वर की इन कविताओं में खूंटी, कोट, दस्ताने, स्वेटर जैसी सामान्य वस्तुएं अपने अर्थ बदल कर विरोध का औजार बन जाती हैं और कवि के भीतर के गुस्से को सार्वजनिक गुस्से में बदल देती हैं। सर्वेश्वर की मृत्यु के बाद संकलित उनका आठवां काव्य संकलन 'कोई मेरे साथ चले'(1985) उत्पीड़ित जन के प्रति मानवीय सहानुभूति तथा दुनिया को बेहतर बनाने की चिंता से ओत–प्रोत है।

सर्वेश्वर के लिए लोकतंत्र हमेशा एक सवाल रहा, लगभग अनसुलझा सवाल. जिससे सर्वेश्वर के तमाम समकालीनों की भी मुठभेड़ हुई। लेकिन सर्वेश्वर किसी बने–बनाए रास्ते पर चलकर इन सवाल के जवाब तलाशने वालों में से न थे। 'अपनी यात्रा से बने अनिर्मित पंथ' पर चलने की प्रक्रिया में ही वे इन सवालों के जवाब तलाशते हुए दिखते हैं।

'लीक पर वे चलें' कविता में कवि आत्मानुभव पर एक मात्र भरोसा करने की प्रतिज्ञा को व्यक्त करते हुए जीवन और साहित्य में पहले से चली आ रही बनी बनायी राहों को त्यागते हुए अपने ही खोजे हुए रास्तों और साहसिक प्रयोगों के माध्यम से अपनी रचनाशीलता और व्यक्तित्व को उपलब्ध करने का संकल्प व्यक्त करता है। इस कविता में राहों के अन्वेषण, अनुभूति की अद्वितीयता और प्रामाणिकता तथा मौलिक सौन्दर्यबोध के प्रयोगवादी और नई कविता के प्रतिमानों की स्पष्ट अनुगूंज है। कवि के व्यक्तित्व की निजता और अद्वितीयता का आग्रह एक रूमानी और सपनीले भावलोक का निर्माण करती है। अनुभूति की लयात्मकता गीत, संगीत और नृत्य के बिंबों में व्यक्त हुई है—

साक्षी हों राह रोके खड़े/पीले बांस के झुरमुट, /कि उनमें गा रही है जो हवा/उसी से लिपटे हुए सपने हमारे हैं.../गायक–मंडली–से थिरकते आते गगन में मेघ/वाद्य–यन्त्रों–से पड़े टीले/नदी बनने की प्रतीक्षा में, कहीं नीचे/शुष्क नाले में नाचता एक अंजुरी जल...[1]

डी–32, ऑक्सफोर्ड अपार्टमेंट, आई. पी. एक्सटेंशन, दिल्ली–110092
मोबाइल : 9868666839
ई–मेल : awadheshkrt@gmail.com

इन प्रकृति बिंबों में कवि अपनी आकांक्षाओं और सपनों को, मानवीय क्रियाव्यापारों को इस प्रकार संक्रमित करता है कि संगीत के अमूर्त प्रभाव मूर्त होकर प्रकृति और मनुष्य जीवन की संश्लिष्ट लयबद्धता को प्रकट करते हैं। झूमना, खिलखिलाना, शोखी, अल्हड़ता यहां क्रियाएं अथवा विशेषण मात्र नहीं बल्कि कवि व्यक्तित्व की आन्तरिक उमंग और स्वर संगति को व्यक्त करने वाले प्रत्यय हैं। 'वक्ष खोले डोलती अमराइयां' जैसे बिंब कवि की अकुंठ सौन्दर्यानुभूति का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं जो रूमानियत के बावजूद कवि की छायावाद से कहीं आगे की संवेदना को प्रकट करते हैं।

'भूख' कविता संघर्ष के सौन्दर्य को व्यक्त करती है। जीवन समर में ही सौन्दर्य का साक्षात्कार संभव है— इस केन्द्रीय विचार को कवि भूख से लड़ते, प्रकृति के साथ संघर्ष करते पशु-पक्षियों की सहज क्रियाओं के लयबद्ध बिंबों में व्यक्त करता है—

झपटता बाज/फन उठाए सांप/दो पैरों पर खड़ी /कांटों से नन्ही पत्तियां खाती बकरी/दबे पांव झाड़ियों में चलता चीता/ डाल पर उल्टा लटक/फल कुतरता तोता...[2]

इन बिंबों की फेहरिस्त के बाद कवि इंसानों की दुनिया के बारे में इसी सहज सत्य को व्यक्त करते हुए कविता पूरी करता है. यह छोटी कविता संघर्ष और सौन्दर्य, विचार और संवेदना, बिंब और वक्तव्य के कल्पित रूढ़िगत विरोधों का प्रत्याख्यान करते हुए उनकी मौलिक संश्लिष्टता को सघन और मार्मिक ढंग से व्यक्त करती है।

सर्वेश्वर रूमानियत से शुरू करके गंभीर राजनीतिक आशयों की कविताओं तक पहुँचे। बहुधा उनकी कविताएं भावावेग की कविताएं हैं. भावावेग और रूमानियत वह पूंजी है जिसके बल पर सर्वेश्वर एकदम निष्कवच होकर सच के मुकाम तक पहुँच पाते हैं और नई कविता आंदोलन की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। उनकी कविता समाज के समस्त सपनों, मुक्ति की आकांक्षाओं, विसंगतियों और विडंबनाओं का आइना है।

सर्वेश्वर अपनी काव्ययात्रा के आरंभ से ही आजादी के बाद पैदा हुए नव-धनाढ्य वर्ग के ख़िलाफ़ तीखे आक्रोश से भरे देखे जा सकते हैं। लेकिन यह आक्रोश कितना सुसंगत था, कहना मुश्किल है। उनके शुरुआती संग्रह 'काठ की घंटियां' की कविता 'खाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएं' में इस आक्रोश को देखा जा सकता है। सचमुच एक नौजवान कवि के पास आक्रोश है, आवेग है, एक सार्थक और सशक्त भाषा है लेकिन अनुभूति की वह गहराई नहीं है जो परवर्ती सर्वेश्वर में देखने को मिलती है। इसीलिए उतना सधा हुआ सुर नहीं है। लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज़ादी के ठीक बाद जनता के भीतर एक बेचैनी थी. सर्वेश्वर उस बेचैनी को बड़ी शिद्दत से महसूस कर रहे थे। जिन लोगों ने इस दौर में अपने आप को भ्रष्ट नहीं बनाया और ईमानदारी से जीवन जीना चाहा उन्हें ही ठगा जा रहा था इस बात की टीस सर्वेश्वर की कविता में मौजूद है—

छल और फरेब की/झूठे हिसाब-किताब की/हमने इल्लत नहीं पाली थी, /इसीलिए तुमसे अपनी जेब कटवा ली थी ...../ फिर भी हमारा अटल विश्वास है/कि खाली जेबें/सोने की तिजोरियों पर/कफन बन जाएंगी [3]

दमन और दकियानूसी से भरे देश में उदासी और त्रासदी स्थायीभाव की तरह हैं। सर्वेश्वर की बहुचर्चित कविता 'चुपाई मारौ दुलहिन' इन्हीं स्थाईभावों की कविता है. 'चुपाई मारौ ..' लोक की भूमि पर पल्लवित होती है लेकिन लोक के पिछड़ेपन पर व्यंग्य करती हुई। सर्वेश्वर का कवि लोक में जो कुछ भी है सब महान है, मानकर रचना न करने वाला था। आखिर लोक की चेतना निर्मित कैसे होती है ? लोकवाद के नाम पर जो प्रवृत्ति चल निकली है उसमें आमलोगों की पिछड़ी हुई चेतना और पिछड़े हुए सामंती समाज की सांस्कृतिक क्रूरताओं का उत्सव है। सर्वेश्वर लोक के विविध रूपों में से मानव समाज के लिए आवश्यक रूप की पहचान करते हैं. 'चुपाई मारौ दुलहिन' लोक की खोज और उसके महिमामंडन से संचालित नहीं है. इसीलिए लोक की जमीन पर खड़े होकर कवि देख पाता है कि आज़ादी के बाद सत्ता में आया तबका रोटी, कपड़ा और मकान की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करना तो दूर इनकी ही लूट में लग गया। कविता में 'चुपाई मारौ दुलहिन मारा जाई कौआ' की टेक का बार-बार आना कवि की तरफ से दी जाने वाली तसल्ली और उम्मीद की तरह है। इस कविता का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू है इसका व्यंग्य। व्यंग्य कथन को और धार देता है और कई बार तसल्ली झूठे आश्वासन में बदल जाती है। आजादी के बाद कोरे आश्वासनों के द्वारा तमाम समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया लेकिन हक़ीकत की तस्वीर नहीं बदली। 'चुपाई मारौ दुलहिन' इसी हक़ीकत की एक बानगी है, जिसमें लोकगीतों की सी लय और जटिल अनुभवों का ताना-बाना है—

दे रोटी ? /गई कहां थी बड़े सबेरे/कर चोटी ?/लाला के बाजार में, /मिली दुवन्नी/पर वह भी निकली खोटी, /दिन भर सोयी, /बीच बाजार में बैठ के रोयी/सांझ को लौटी/ले खाली

झौआ/चुपाई मारौ दुलहिन/मारा जाई कौआ [4]

दुलहिन को चुप कराते सर्वेश्वर जिस कौवे को मारने के बात कर रहे हैं यह वही है जो आता तो सफेद लिबास में है लेकिन भीतर से काला है। कौवे के बारे में लोक में प्रचलित है कि वह बहुत चालाक होता है, कौआ आमतौर पर प्रिय जनों के आगमन की शुभ सूचना देने वाले पक्षी के रूप में हिंदी साहित्य में एक काव्यरूढ़ि की तरह इस्तेमाल होता रहा है। दूसरी तरफ लोक में कौवा मृत्यु को पूर्वाशित करने वाला अपशकुनी पक्षी भी है। सर्वेश्वर कौवे के इन दोनों लोकप्रचलित प्रतीकों को एक नए यथार्थ को उद्घाटित करने के काम में लगाते हैं। सर्वेश्वर को इस कौवे को मारने की ज़रूरत क्यों लगती है? जाहिर है कि यह कौआ खुशियों के आने की घोषणा तो करता है लेकिन कोई खुशी नहीं आती, उल्टे दु:ख के पहाड़ टूट पड़ते हैं। दिन भर चरखा कातने के बाद भी लोगों के पास तन ढकने के लिए कपड़े नहीं हैं, बाढ़ में सब कुछ नष्ट हो जाने के बाद मिलने वाली सरकारी सहायता भी पीड़ितों के पास नहीं पहुँच पाती, बीच में ही हजम कर ली जाती है। लोग दाने-दाने के लिए तरस रहे हैं लेकिन अनाज गायब कर दिया जा रहा है –

दे धोती ?/दिन भर चरखा कात/सांझ को क्यों रोती ?...../ दे छानी ?/सुना कि तूने की /सरकारी मेहमानी ?/खूब कहा! / बाढ़ में बस घर-द्वार बहा, /आध-आध गज कपड़ा पावा/और सेर भर आटा, /तीन-चार दिन किसी तरह/घर-भर ने मिलकर काटा, /दाने-दाने को मोहताज, /घूम रहे हैं बेघर आज, /तीन रूपए इमदाद मिली है/ऊपर तीस बुलौआ/चुपाई मारौ दुलहिन/ मारा जाई कौआ [5]

इसी तरह कविता में आगे मेले में माचिस, बीड़ी, पान की दुकान भी रखने पर किस तरह से शोषणतंत्र का शिकार बनना पड़ता है, किस तरह चारों ओर लूट मची है, उसका वर्णन किया गया है। अंतत: आज़ादी की असलियत बहुत तीखे व्यंग्य में परिणत हो जाती है। गांधी जी के नाम पर आई आज़ादी और गांधी जी के नाम पर उनके चेलों द्वारा की जा रही लूट का चेहरा सर्वेश्वर अपनी कविता में उजागर करते हैं। जो न सिर्फ़ अकाल पीड़ितों के लिए आए अनाज को हजम कर जाते हैं बल्कि बात-बात में गोली मारने को तैयार हैं –

दे आज़ादी ?/किसके बल पर/दुखिनी कहलाती शहजादी ?/ गांधीजी के चेला के। /पड़ा अकाल नहीं तो /पूछे जाते नहीं अधेला के /बोली मारै, /बात-बात में /गोली मारै /शोर मचाता घूमै/ बच्चे ज्यों लूटें कनकौआ।/ चुपाई मारौ दुलहिन/ मारा जाई कौआ [6]

इन सारे उत्पीड़नों और परिस्थितियों से होते हुए 'दे मौत' तक पहुँचती है कविता। एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण किया गया जिसमें रहने की अपेक्षा मौत का वरण लोगों को श्रेयस्कर लगा। आधुनिक राष्ट्र के निर्माण के लिए सामंती मूल्यों से संघर्ष किए बिना उनसे समझौते के आधार पर ही चल रहे समाज में जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु का वरण श्रेयस्कर जान पड़ता है।

पूरी कविता में लगातार किसी स्त्री को संबोधित किया गया है। यह दुलहिन ही हैं जो जब भी पान-सुपारी दे रही हैं, उन्हें गाली सुननी पड़ रही है। कमा कर परिवार का पेट पालने और परिवार का तन ढंकने का जिम्मा भी इन्हीं पर है। सर्वेश्वर 'दुलहिन' को कबीर की तरह मंगलचार गाने के लिए नहीं कह पा रहे हैं क्योंकि स्थितियां ऐसी हैं कि गंगा में डूब मरना ज़्यादा उचित लग रहा है। ऐसे तो शोषण से पीड़ित पूरी भारतीय जनता ही दुलहिन है, लेकिन कवि ने दुलहिन को संबोधित करने के लिए शायद इसलिए चुना कि वह शोषितों में भी शोषित है या सबसे ज़्यादा दिलासे की ज़रूरत उसे है या फिर स्त्री स्वर की पीड़ा ज़्यादा प्रामाणिक हो सकती थी।

बदलते हुए सामाजिक यथार्थ और संवेदना को सर्वेश्वर ने अभिव्यक्ति दी। एक क्रूर शासन व्यवस्था सिर्फ़ लोगों पर शारीरिक अत्याचार ही नहीं करती. वह लोगों की सोच, संवेदना, अनुभूति, रुचि और संस्कृति को भी विकृत करती है। विवशता नहीं कुतूहल खरीदने वाले समाज का सौन्दर्यबोध ऐसा है कि मृत्यु तक की पैकेजिंग होने लगी है। उसके बगैर लोगों की संवेदना का हकदार भी नहीं हुआ जा सकता। सर्वेश्वर इसी सौन्दर्यबोध के यथार्थ को अपनी कविता में पकड़ते हैं–

आज की दुनिया में,
विवशता,
भूख,
मृत्यु,
सब सजाने के बाद ही
पहचानी जा सकती हैं।
बिना आकर्षण के
दुकानें टूट जाती हैं।
.....
ओछी नहीं है दुनिया:
मैं फिर कहता हूं
महज़ उसका
सौन्दर्य-बोध बढ़ गया है। [7]

सौन्दर्य का प्रश्न पिछले दिनों तमाम महानगरों में संघर्ष

और आंदोलन का प्रश्न रहा। दिल्ली और मुंबई में तो शहर के सुन्दरीकरण के नाम पर लाखों लोग उजाड़ दिए गए। यह बढ़ा हुआ सौन्दर्यबोध ही है जो महानगरों में झुग्गियां उजड़वाता है।

'सर्पमुख के सम्मुख' कविता में एक देश के नागरिक की अपने ही देश में निर्वासित व्यक्ति या समूह की पीड़ा की अभिव्यक्ति है। यहां उसकी आस्था के लगातार खंडित होते जाने और अपने ही देश में अजनबी बनते जाने की पीड़ा मौजूद है। आज़ादी के बाद की उसकी उपलब्धि कुल मिलाकर खंडित आस्थाओं, भावों, विचारों और प्रतिमाओं की गठरी है। यहां लोग एक दूसरे से भयभीत हैं। कोई भी निर्भय हो किसी पर यकीन नहीं कर पाता। प्रेम की भुजाएं टूट चुकी हैं, करुणा स्वार्थ के चलते अन्धी हो चुकी है और ईश्वर के नाम पर सिर्फ़ पेट ही बचा रह गया है। माहौल ऐसा है कि पूरे देश और समाज से अलगाव की अनुभूति, अपने अस्तित्व की पहचान और रक्षा की अनुभूति गहन होती जाती है—

उपलब्धि के नाम पर
मेरे पास एक झोला है
जो खण्डित मूर्तियों से भरा है।
यह मूर्ति शक्ति की है—
जिसके पैर ईश्वर से प्रार्थना करते समय
गिरकर टूट गए हैं [8]

अस्तित्व की पहचान और रक्षा की कोशिश में लोग अपनी पराजयों के सर्पमुख के सम्मुख डसे जाने के लिए अभिशप्त बैठा दिए गए है। अस्तित्व की गिरती हुई एक-एक ईंट और उसके कुचल दिए जाने के सिलसिले के बावजूद कवि जीवन का, आगे बढ़ने का और जागरण का गीत गाना चाहता है। और वह गीत अचानक विस्फोट की तरह यों अभिव्यक्त होता है—

मैं कहना चाहता हूं -
यह कायरों का देश है,
यहां लोग देखने को आगे देखते हैं
चलने पर पीछे चलते हैं,
घुनी लकड़ियों के धनुष बनाते हैं
और विवेक के नाम पर
प्रत्यंचा चढ़ाने से मना करते हैं,
बौनों के समाज में
घुटनों के बल चलने की शिक्षा देते हैं,
छोटी चारपाइयों के हिसाब से
आदमी के बढ़े हुए पैर काटकर
सोचते हैं उसे सुख और आराम दे रहे हैं,
लेकिन एक भी स्वर नहीं फूटता है [9]

यह उस अजनबियत की बेचैनी और तल्खी की अभिव्यक्ति है, जिसकी त्वरा या संवेग कुछ समय के लिए तो निश्चित रूप से राहत जैसी दे सकती है। लेकिन लंबे काल के लिए सिर्फ़ यह कहकर काम नहीं चलाया जा सकता कि छोटी चारपाइयों के हिसाब से पैर काटकर यह समझा जा रहा है कि उसे सुख दिया जा रहा है। अस्तित्व की छटपटाहट और बेचैनी बहुत ठोस परिस्थितियों के चलते हैं और सर्वेश्वर ने उन परिस्थितियों का बेहतर विश्लेषण और बेहतर काव्यात्मक अभिव्यक्ति की है।

सर्वेश्वर की कविता की ताकत हैं लोक के अनुभव। जीवन से गहन संपृक्ति और जीवन के तमाम पहलुओं पर तेज निगाह उनकी कविता को एक नई तरह की लय से लैस करती है। लोक के साथ यह तादात्म्य शहर से गाँव के आकर्षण और सादगी के किस्से सुनकर गाँव आए किसी सैलानी कवि का तादाम्य नहीं है जो हर बात में अहा! और वाह! से अलग सोच भी नहीं पाता। यह तादात्म्य वहीं और उन्हीं परिस्थितियों में रहकर अर्जित किया गया है। 'घन्त-मन्त' जैसी कविता इन्हीं अनुभवों की उपज है। लगभग पूरे हिंदी क्षेत्र में छोटे बच्चों को घर के बड़े लोग अपने पैरों पर बैठाकर झुलाते हैं और घन्त-मन्त गाते हैं। उनके गीत में एक पूरी शृंखला बनती है कि कैसे लोग एक दूसरे से लेन-देन करते हैं। बच्चे के लिए पूरे परिवेश के साथ यह एक आत्मीय परिचय की तरह है। इस गीत में मानव समाज और प्रकृति- नदी, बालू, दाना-भूजा, घास, घसियार, गाय, खीर सब उपस्थित हैं। अन्त में यह गीत जीवन के सतत विकसित होने, नए के आगमन व अगवानी और फरातन के समापन व विदाई के साथ समाप्त होता है।

घन्त मन्त दुई कौड़ी पावा
कौड़ी लैके गंगा में बहावा,
गंगा माई बालू देहलिन
उ बलुवा हम भुजहरवा के देहलिन,
भुजहरवा बेचारा भूजा देहलै
उ भुजवा हम घसियरवा के देहलिन,
घसियरवा बेचारा घास देहलै
उ घसिया हम गइया के खियवलीं,
गइया बेचारी दूध देहलै
उ दूधवा कै खीर बनवलीं,

खीर गइल बसियाय, बाबू गयल रिसियाय
केहू के मनवले ना मानै, हमरे मनवले मानि जाय
बुढिया आपन लइका बच्चा संभरले रहिए,
पुरान भीत गिरी नई भीत उठी।[10]

सर्वेश्वर ने अपनी कविता 'घन्त-मन्त' में इसी तरह की एक शृंखला निर्मित की है लेकिन यहां कौड़ी लेकर आदमी नदी की तरफ नहीं जाता, प्रकृति की तरफ नहीं जाता, दिल्ली जाता है, सत्ता के केन्द्र की तरफ जाता है। जहां वास्तविक लोकगीत में एक दूसरे के साथ सीधा आदान-प्रदान है वहीं इस कविता में क्रूरता है।

घन्त मन्त दुइ कौड़ी पावा
कौड़ी लै के दिल्ली आवा,
दिल्ली हमका चाकर कीन्ह
दिल-दिमाग भूसा भर दीन्ह,
भूसा ले हम शेर बनावा
ओह से एक दुकान चलावा,
देख दुकान सब किहिन प्रणाम
नेता बनेन कमाएन नाम,
नाम दिहिस संसद में सीट
ओह पर बैठ के कीन्हा बीट,
बीट देखि छायी खुशियाली
जनता हंसिस बजाइस ताली,
ताली से ऐसी मति फिरी
पुरानी दीवार उठी, नयी दीवार गिरी।[11]

यह है दिल्ली की हकीकत। आज़ादी के बाद की दिल्ली के सत्ताधीशों ने लोगों के दिल-दिमाग में भूसा भर कर उन्हें अपनी चाकरी में लगा लिया. कविता के अंत में पुरानी पीढ़ी द्वारा नई पीढ़ी के ख़िलाफ़ किये गए क्रूर षड्यंत्र का संकेत है। बच्चों के लिए सुनाई जाने वाली कविता के अंत में आता है— 'पुरान भीत गिरी/ नई भीत उठी'। सर्वेश्वर जब अपने समय के विद्रूप को देखते हैं तो दिखाई पड़ता है कि 'पुरानी दीवार उठी/ नई दीवार गिरी'।[12] नये विचार, नयी ऊर्जा, नये राष्ट्र का स्वप्न सब कुछ ध्वस्त किया जाता सा दिखाई पड़ता है। निराला जिस नए की कामना और अगवानी कर रहे थे 'नव नभ के नव विहग वृंद को/ नव पर नव स्वर दे', उसके उलट अब का निजाम किसी भी तरह के नयेपन के ख़िलाफ़ है। यही है पुनरुत्थानवादी चेतना के उत्थान का समय जिसे सर्वेश्वर पहचानते हैं। आखिर सर्वेश्वर ने बच्चों के लिए गाए जाने वाले गीत का उपयोग इस तरह के विद्रूप के उद्घाटन के लिए क्यों किया ? उन्होंने बच्चों के ख़िलाफ़ षड्यंत्र को देखा, समझा और उन्हें शायद यह ज़रूरी लगा होगा कि बच्चों को भी बाखबर होना चाहिए। बच्चे किसी भी समाज की संभावना और सपने होते हैं। दूसरे कविता के इस रूप के चलते इसके व्यंग्य में एक ज़बर्दस्त धार आ गई है। संसद की सीट पर बैठकर बीट करना हास्यास्पद है। भूसा भरे शेर की दुकान यह भी इंगित करती है कि जिसे सब प्रणाम कर रहे हैं वह असली शेर नहीं है। उससे भयभीत होने की ज़रूरत नहीं है।

'धीरे-धीरे' कविता धीरे-धीरे मरते हुए देश की छटपटाहट है, जहां तकलीफ इसी बात की है कि सब कुछ धीरे-धीरे हो रहा है। धीरे-धीरे मरण का राग है, जैसे धीरे-धीरे ही घुन अनाज को खा जाता है उसी तरह देश के शुभचिंतक धीरे-धीरे देश को खाए जा रहे हैं।

मेरे दोस्तो!
मैं उस देश का क्या करूँ
जो धीरे-धीरे
धीरे-धीरे खाली होता जा रहा है
भरी बोतलों के पास खाली गिलास-सा
पड़ा हुआ है। [13]

धीरे-धीरे ही रीतते जा रहे देश की मृत्यु सिर्फ़ किसी अमूर्त की मृत्यु नहीं है बल्कि देश के निवासियों के मूल्यों और आकांक्षाओं की मृत्यु है। आज़ादी के बाद देश के निवासियों में देश के निर्माण का जो उत्साह था, बदलाव की जो आकांक्षा थी वह समाप्त कर दी गई। शासकों ने उसकी हत्या कर दी। क्रांति यात्रा का शवयात्रा में बदल जाना स्वातंत्रयोत्तर भारत की त्रासदी है।

सुनो,
ढोल की लय धीमी होती जा रही है
धीरे-धीरे एक क्रांति यात्रा
शव यात्रा में बदल रही है।
सड़ांध फैल रही है—
नक्शे पर देश के
और आँखों में प्यार के
सीमान्त धुंधले पड़ते जा रहे हैं
और हम चूहों-से देख रहे हैं [14]

भारतीय लोकतंत्र का सबसे बड़ा उत्सव गणतंत्र दिवस पर दिल्ली में होता है। जिसमें देश के तमाम प्रदेशों की समृद्धि की झांकियों से लेकर सैन्य शक्ति तक का प्रदर्शन किया जाता है। कुल मिलाकर देश के ग़रीबों के सामने समृद्ध, खुशहाल

और शक्तिशाली देश की एक ऐसी छवि पेश की जाती है कि उसकी आँखें चुंधिया जाएं। इस पूरी परेड की सलामी देश के सर्वोच्च शासकों द्वारा ली जाती है। लेकिन यदि एक संवेदनशील कवि सलामी मंच पर खड़ा होता है तो उसे पचास करोड़ आबादी वाले देश के भूखे-नंगे लोगों की ठठरियां बजती हुई सुनाई पड़ती हैं-

यह बंद कमरा
सलामी मंच है
जहां मैं खड़ा हूं-
पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते
ठठरियां खड़खड़ाते
हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते हैं। [14]

गणतंत्र दिवस की इस परेड में शामिल सभी लोग लोकतंत्र को अपने कंधे पर उठाए गर्व के साथ भागे जा रहे हैं। लाठी से लटकाया हुआ जूता हास्यास्पद तो है ही लेकिन एक बंदूक जैसी आकृति भी बनती है। यही है लोकतंत्र की असलियत-

लोकतंत्र को जूते की तरह
लाठी से लटकाए
भागे जा रहे हैं सभी
सीना फुलाए [16]

देश में आज़ादी के बाद गांधी के नाम पर जिस तरह की सत्ता की स्थापना हुई उसके दुष्परिणाम को पूरे देश ने भुगता। गांधी ने अपने दर्शन में जितनी ग़रीबों की बात की बाद की सत्ता ने उसका इस्तेमाल ग़रीबों के ख़िलाफ़ अपने शासन को उनके बीच वैधता हासिल करने का औजार बना दिया। गांधीवाद के नाम पर लोगों को मूर्ख बनाया जा रहा था। हत्यारे पहले कहते कि गांधी जी ने अहिंसा का उपदेश दिया है, हिंसा बुरी चीज है और जब लोग आश्वस्त हो निहत्थे हो जाते तो उनकी हत्या कर देते। 'पंचधातु' कविता एक व्यंग्यात्मक तेवर के साथ गांधी के तमाम प्रतीकों के हो रहे इस्तेमाल पर करारी चोट की है।

मैं जानता हूं
क्या हुआ तुम्हारी लंगोटी का,
उत्सवों में अधिकारियों के
बिल्ले बनाने के काम आ गयी,
.....और तुम्हारी लाठी ?
उसी को टेककर चल रही
एक बिगड़ी दिमाग डगमगाती सत्ता।
..... तुम्हारी चप्पल
गरीबों की चांद गंजी
करने के काम आ रही है।
और घड़ी ?
देश के नब्ज की तरह बंद है। [17]

यही गांधीवाद की अनिवार्य परिणति होनी थी। यदि कोई आंदोलन सेठों और जमींदारों के नेतृत्व में चलेगा तो निश्चित रूप से सेठ और जमींदार सत्तासीन होने पर अपने ही वर्ग के हितों की रक्षा करेंगे। उन्हीं के स्वार्थों की पूर्ति के लिए गांधी के अहिंसा के डंडे से ग़रीबों की चमड़ी तक उधेड़ ली जाएगी।

पशु बिम्बों में लोकतंत्र

'भेड़िया' शीर्षक तीनों कविताओं में सिर्फ़ शीर्षक के आधार पर ही एकता नहीं है बल्कि ये एक दूसरे के साथ अंतर्वस्तु के स्तर पर भी जुड़ी हुई हैं। ये तीनों कविताएं आदमी और भेड़िए या कहें आदमियत और भेड़िएपन के संघर्ष की कविताएं हैं और भेड़िया महज़ जानवर न होकर एक प्रवृत्ति में बदल जाता है। राजाराम भादू ने इन कविताओं की चर्चा करते हुए लिखा कि- ''यह 'भेड़िया' क्या है? इन कविताओं का भेड़िया एक साथ वास्तविक और रूपकात्मक बना रहता है। एक रूपक के रूप में वह मानवीकृत है, यानी मनुष्य का भेड़ियाकरण। भेड़ियाकृत मनुष्यों से निपटने की कार्यवाही का वृत्तान्त। इस तरह यहां रूपक अथवा प्रतीक की परंपरागत प्रयुक्ति का अतिक्रमण है। वैसे ये सर्वेश्वर की अपनी काव्यशैली है जिसमें कविता अपनी स्वतंत्र इयत्ता के साथ जीवन की सापेक्षता में खड़ी है। सर्वेश्वर मनुष्य की मूल प्रकृति और सहजात वृत्तियों की मनोवैज्ञानिक पड़ताल करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य की बाहर प्रकट होने वाली प्रवृत्ति की निर्मिति पहले भीतर घटित होती है। मनुष्य का भेड़ियाकरण अंत:करण में हुए व्यापक स्खलन की परिणति है जिसमें प्रेम, करुणा, मैत्री जैसी उत्कृष्ट भावनाओं का खात्मा हो चुका है। इस भेड़िया वृत्ति का प्रतिकार एक ज़रूरी कर्तव्य है।'' [18]

लेकिन क्या इन कविताओं को मनुष्यता के क्षरण, स्खलन और उसके प्रतिकार की कविता के रूप में प्रस्तुत करके इनका अमूर्तन किया जा सकता है? क्या सर्वेश्वर की काव्यशैली ही जीवन के सापेक्ष स्वतंत्र इयत्ता वाली कविताओं की रचना की है? यदि किसी रचना को उसकी किसी ख़ास काल में अवस्थिति से स्वतंत्र कर दिया जाए तब तो वह शाश्वत किस्म के अमूर्तन में व्याख्यायित की जा सकती है अन्यथा वह आलोचक से मांग करेगी कि रचना को उसके देश-काल में अवस्थित किया जाए। क्या भेड़ियावृत्ति मनुष्य मात्र की सहज वृत्ति है? यदि नहीं तो

किसी समय विशेष में वे कौन से कारक या कारण हैं जो मनुष्य को भेड़िया बना देते हैं? ये आपातकाल के दौर की कविताएं हैं, जहां इस देश के शासक न सिर्फ़ ख़ुद भेड़ियों में बदल गए हैं बल्कि उन्होंने भेड़ियों की एक पूरी फौज खड़ी कर रखी है। यदि इस संदर्भ को हटा दिया जाए तो कविता एक सपाट किस्म में रेटरिक में बदल जाएगी। राजाराम भादू जी ने ठीक कहा है कि ये कविताएं 'भेड़ियाकृत मनुष्यों से निपटने की कार्यवाही का वृत्तान्त' हैं। लेकिन यह भेड़िया किस प्रक्रिया से बना है, किन परिस्थितियों से बना है, उसकी शिनाख्त वे नहीं करते। इन कविताओं के प्रसंग में भादू जी भुवनेश्वर की कहानी 'भेड़िए' को याद करते हैं जिसमें अपने पीछे पड़े भेड़ियों से बचने के लिए बंजारा गाड़ीवान अपनी गाड़ी में मौजूद एक-एक नटनी को भेड़ियों के सामने फेंकता जाता है। भेड़िए उस महिला को खाने में थोड़ा वक्त लेते हैं और फिर गाड़ी के पीछे दौड़ पड़ते हैं। यदि उन महिलाओं की आँख से देखें तो उनके लिए स्त्री व्यापार में लिप्त बंजारा भी भेड़िया ही है। लेकिन भादू जी यहीं सवाल उठाते हैं कि क्या बंजारा भी भेड़ियों के भय से मुक्त हो पाया? थोड़े से सावधान पाठ से इन कविताओं में इस प्रश्न का जवाब पाया जा सकता है। भेड़ियावृत्ति सिर्फ़ यह नहीं है कि भेड़िए आदमी के शत्रु हैं, भेड़ियावृत्ति यह भी है कि भेड़िए, भेड़ियों को भी चीथ डालते हैं। भेड़ियावृत्ति भय से मुक्ति की नहीं भयग्रस्त होने की वृत्ति है। आपातकाल ऐसे ही देश पर नहीं थोप दिया गया था। गांधी जी की लाठी टेक कर चलती एक 'बददिमाग सत्ता' ने किसानों-मज़दूरों और छात्रों के आंदोलन का वह तेवर देखा था जिसमें उसे ध्वस्त करने की आग थी। इसी आग से भयभीत हो उसने देश में आपातकाल थोप दिया था। यह मनुष्य की सहजात वृत्ति के चलते नहीं बल्कि किन्हीं ख़ास वर्गीय हितों के चलते हुआ था। अपनी सत्ता और पूंजीपतियों के हितों की रक्षा ही इसका ध्येय था। इसीलिए तीनों कविताएं प्रतिरोध के क्रमशः विकसित होने, और उच्चतर स्तर को प्राप्त करने व संगठित प्रतिकार की कविताएं बनती हैं।

भेड़िए की आँखें सुर्ख हैं।
उसे तब तक घूरो
जब तक तुम्हारी आँखें
सुर्ख न हो जाएं
और तुम कर भी क्या सकते हो
जब वह तुम्हारे सामने हो?
यदि तुम मुँह छिपा भागोगे
तो भी तुम उसे
अपने भीतर इसी तरह खड़ा पाओगे [19]

इस शृंखला की पहली कविता कोई वैयक्तिक संघर्ष की कविता नहीं है। हाँ इतना ज़रूर है कि यह मनुष्य के संगठित होने के पहले की कविता है। भेड़ियों की लाल आँखों में तब तक देखने की बात है जब तक कि मनुष्य की आँखें भी लाल न हो जाएं। मतलब यह नहीं कि भेड़िए से लड़ने के लिए भेड़िया बनने को प्रस्तावित किया जा रहा है। मनुष्य की लाल आँखों और भेड़िए की लाल आँखों में यही फ़र्क़ है, यह जंगल के वहशीपन के ख़िलाफ़ आदमियत के मोर्चा लेने का फ़र्क़ है। इसीलिए भेड़ियापन के ख़िलाफ़ संघर्ष किसी मजबूरी का तर्क नहीं है कि 'और तुम कर भी क्या सकते हो'। मानव सभ्यता की विकासयात्रा में अनेकों बार मनुष्य और भेड़िए आमने-सामने हुए हैं, सत्ता और जनता आमने सामने हुए हैं और हर बार मनुष्य ने भेड़िए पर और जनता ने सत्ता पर जीत हासिल की है। इसलिए आज भी भेड़िए की आँखों में आँखें डाल उसके सामने डटकर खड़े हो जाने के अलावा और कुछ भी मानव धर्म न होगा। इसीलिए भादू जी के इस विश्लेषण से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि ''कहते हैं कि जब हिरणी को यह लगता है कि शिकारी (चाहे वह हिंस्र जीव हो या मनुष्य) से वह बच नहीं सकती तो अपने सींग आगे कर मुकाबले पर उतर आती है।''[20] यह लोक-मान्यता इस कविता के साथ फिट नहीं बैठती लगती। भेड़िए की सत्ता की आँखों में आँखें डालकर खड़े होने की बात पढ़ते हुए मुक्तिबोध की कविता 'भूल-गलती' की याद आती है जहां ईमान सत्ता की आँखों में आँखें डाल निडर खड़ा है—

वह कैद कर लाया गया ईमान ...
सुलतानी निगाहों में निगाहें डालता,
बेख़ौफ़ नीली बिजलियों को फेंकता [21]

यह कोई मृत्यु के दबोचने के पहले का हिरनी का अंतिम प्रयास नहीं है। यह सत्ता और अन्याय के प्रतिकार की ऐतिहासिक जिम्मेदारी का बोध है, जिसे मनुष्य ने सभ्यता के विकासक्रम में अर्जित किया है। भागने पर भेड़िए को अपने भीतर खड़ा पाना भेड़िए का आभ्यंतरीकरण नहीं है बल्कि जब आदमी और आदमखोर की जंग हो रही हो तो आदमी के साथ न खड़ा होना आदमखोर हो जाना है। भादू जी एक तरफ तो इस बात का उचित ही आग्रह करते हैं कि इस शृंखला तीनों कविताओं में एकसूत्रता है इसीलिए उन्हें एक साथ पढ़ा जाना चाहिए वहीं दूसरी तरफ उनका निष्कर्ष है कि पहली कविता वैयक्तिक प्रतिकार या वैयक्तिक प्रतिहिंसा की रणनीति को स्थापित करती

है। संकट यह है कि यदि तीनों कविताओं को एक साथ रखकर पढ़ा जाएगा तो पहली कविता को इस रूप में देखने के बजाय एक प्रक्रिया के रूप में देखना होगा जहां व्यक्ति बनाम समूह का द्वंद्व नहीं है बल्कि सत्ता के ख़िलाफ़ संगठित होते समूह की प्रक्रिया है—

भेड़िया गुर्राता है
तुम मशाल जलाओ।
उस और तुम में
यही बुनियादी फ़र्क़ है
भेड़िया मशाल नहीं जला सकता[22]

दूसरी कविता संगठित होकर भेडिए के ख़िलाफ़ खड़े होने की प्रक्रिया है। जहां भेड़िए के ख़िलाफ़ मशाल जलाने का आह्वान है। यह मानव सभ्यता के विकासक्रम में सीखा हुआ अनुभव है कि भेड़िया आग से डरता है। अब यदि हम भेड़िया रूपी क्षरित होती हुई मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति या अज्ञान के ख़िलाफ़ ज्ञान की मशाल जलाने की प्रतिज्ञा से न चलें तो देख सकते हैं कि कवि भेड़िए और मशाल की शब्दावली में मानव सभ्यता के पूरे विकासक्रम में से अपने समय के सवालों के जवाब ढूंढ़ते हुए कुछ ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को उद्‌भासित कर देने की कोशिश में है। भेड़िया रूपक भी है और जानवर भी है। कविता कई जगहों पर दोहरे स्तरों में चलती है। करोड़ों लोगों के पास जो मशाल है वह सच की मशाल है, अन्याय के ख़िलाफ़ खड़े लोगों की आँखों से पैदा हुई आग से बनी है, जो सत्ता के पास नहीं हो सकती। यहां से उस बिम्ब को देखना होगा जहां भेड़िए की आँखों में तब तक देखने की बात है जब तक कि ख़ुद की आँखें लाल न हो जाएं। यह क्रूरतर से जूझने का बिम्ब है। आगे कविता में मनुष्य और पशु के इसी बुनियादी अंतर को सर्वेश्वर रेखांकित करते हैं। ऐसा नहीं कि शासक तब भी इतनी आसानी से मान जाएगा। वह जनता के ही एक हिस्से को तोड़ने की कोशिश करेगा और कुछ लोग टूट भी जाएंगे। कुछ लोग शासकों से मिल जाते हैं, शासकों में बदल जाते हैं या शासकों के विचारों के प्रचारक बन जाते हैं। इसी तरह भेड़ियों का वंश आगे बढ़ता है—

भेड़िए फिर आएंगे
अचानक
तुममें से ही कोई एक दिन
भेड़िया बन जाएगा
उसका वंश बढ़ने लगेगा
.....
इतिहास के जंगल में
हर बार भेड़िया मांद से निकाला जाएगा
आदमी साहस से, एक होकर,
मशाल लिए खड़ा होगा। [23]

भेड़िए को उसकी मांद से निकालना साहसिक कार्यवाही है ।ये कविताएं अपनी संरचना में उद्‌बोधनात्मक हैं, सिर्फ़ हिंसा या प्रतिहिंसा की कविताएं नहीं कही जा सकती। इन्हें हिंसा या प्रतिहिंसा की कवितायें मानकर हम कविता के अर्थ को बहुत संकुचित कर देंगे और भेड़िए रूपक न रहकर महज़ जंगली जानवर रह जाएंगे। संगठित होने का मतलब सिर्फ़ हिंसा के लिए खड़ा हो जाना नहीं है और प्रतिकार या प्रतिरोध का अर्थ भी सिर्फ़ हथियार उठा लेना नहीं है। प्रतिरोध की तमाम रणनीतियों में हथियार उठा लेना भी एक रणनीति हो सकती है. इसीलिए मशाल का तेवर समूह का तेवर है, संगठन का तेवर है जो संगठित होने की प्रक्रिया से ही पैदा हुआ है। मानव सभ्यता के विकास के आरंभिक चरण से लेकर प्रतिरोध के हर समकालीन मोर्चे तक।

'कुत्ता' शृंखला की तीनों कविताएं तीन अलग-अलग तरह के मनोभावों की कविताएं हैं। इन कविताओं में कुत्ते की तीन अलग प्रवृत्तियों को पकड़ने की कोशिश की गई है। निश्चित रूप से यह जानवरों के मनोवृत्तियों के अध्ययन की कविता नहीं है। यह कुत्तों में बदल दिए गए इंसानों की कविता है। पहले कुत्ते को टुकड़खोर बनाया गया, क्योंकि यदि किसी जाति को टुकड़खोर बना दिया जाए तो जीवन भर उसकी पूंछ टुकड़ा डालने वाले के सामने हिलती रहेगी। उसका सारा अस्तित्व सुविधा के एक छोटे से टुकड़े के लिए पूंछ में सिमट जाएगा। इसलिए दुम हिलाने का भाव पूंछ काटने से नहीं समाप्त किया जा सकता। कवि का संकेत यह है कि सत्ता अपने इर्द-गिर्द ललचा देने वाली चीजों का एक मोहक जाल बुनती है जिसमें बहुत से लोग फंसे होते हैं. इसलिए सत्ता के दुश्चक्र से निकलने का तरीका है, उसके द्वारा खड़े किए गए भ्रमों को समाप्त कर देना-

कुत्ते की दुम काट दो
दुम हिलाने का भाव
नहीं जाएगा।
सभी कुत्तों की दुम काट दो
फिर भी
दुम हिलाने का भाव
नहीं जाएगा।

क्योंकि कुत्ता आदत से टुकड़खोर है
तुम्हें टुकड़खोरी के रास्ते
बंद करने होंगे [24]

जब सारे ही लोग एक तरह से सत्ता के संजाल से ग्रस्त हों और चारों तरफ सत्ता की चाटुकारिता में व्यस्त हों तो जो लोग भी सत्ता के ख़िलाफ़ हैं उन्हें सजग हो जाना चाहिए कि कहीं वे भी सत्ता के इसी संजाल में न फंस जाएं। लेकिन यह सोचना अपने आप में एक मध्यवर्गीय सोच का ही हिस्सा है जहां अपने को सत्ता के संजाल से मुक्त व्यक्ति ऐसे व्यक्ति के रूप में देखा गया है जिसे इस तरह के लोगों से बचकर रहना चाहिए जो सत्ता के प्रभाव में हैं–

जब हर चेहरा
हांफता, लार टपकाता
नज़र आए,
पुकारते ही
दुम हिलाए,
दुलारते ही पेट दिखाए,
सारा माहौल कुंकुआने से भर जाए।
तब समझदार को चाहिए
डर जाए
इस आशंका से भर जाए
कि कहीं वह उनसे
प्रतिस्पर्धा न कर जाए। [25]

शायद इसी मध्यवर्गीय दृष्टि से मुक्ति का संघर्ष भी साथ-साथ ही चलता रहता है इसीलिए इस शृंखला की आखिरी कविता में उसी वृत्ति की ओर संकेत किया गया है कि यही कुत्ता यदि अपनी जमात के साथ संगठित हो जाए तो अपने से बहुत अधिक शक्तिशाली के साथ लड़ सकता है। धीरे-धीरे प्रतीक और ज़्यादा स्पष्ट हो जाता है और बहुप्रचलित शब्दावली में कहें तो मालिक और गुलाम के बीच का संघर्ष संकेतित करने लगता है। यह गुलामी का पटेा है जिसके कारण मनुष्य अपने वर्गीय हितों के प्रति सजग नहीं हो पाता है। वह सत्ता के बरअक़्स तो एक वर्ग होता है लेकिन अपने आप में अपने वर्गीय हितों के लिए सचेत नहीं होता–

कुत्ते का पट्टा खोल
जंगल में छोड़ दो
वह भेड़िया बन जाएगा।
उसके साथ
उसकी जमात जोड़ दो
वह शेर से लड़ जाएगा
वह पट्टा है
जिसके कारण
कुत्ता निखट्टा है। [26]

'काला तेंदुआ' शृंखला की कविताएं व्यवस्था के उस आततायी चरित्र का बिंब बनकर आती हैं जिसका अनुभव 1975 के आपातकाल में पूरे देश ने किया था। डॉ. परमानंद श्रीवास्तव के शब्दों में ''सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने जंगल का दर्द में एक पशुलोक की बिंब-जाति का सीधा सामना किया है— पहले खंड की 'भेड़िया', 'कुत्ता', 'काला तेंदुआ'- सिरीज की कविताएं पाठकों का ध्यान सबसे पहले आकृष्ट करेंगी। समकालीन दुनिया के अन्य कई महत्त्वपूर्ण कवियों ने भी पशुलोक के बहुत जीवित, हरकत और तनाव भरे, आक्रामक बिंबों का निर्माण किया है। भेड़िए की पहचान में आततायी की पहचान खोजने की व्यग्रता सर्वेश्वर की कविताओं में आज के आदमी की लड़ाई की दिशा का पता देती है।'' यहां आकर सर्वेश्वर राजनीतिक सत्ता और उसकी क्रूरता से कविता में सीधे जूझते दिखाई पड़ते हैं। आपातकाल के जंगलराज, निर्मम दमन और सभ्यता के सारे ही विकास को नष्ट कर देने को आतुर शासक वर्गों की आक्रामकता काला तेंदुआ के प्रतीक में व्यक्त हुई है। इस कविता में काला तेंदुआ का बिंब सभ्यता के उस आदिम दौर की स्मृति को आपातकाल के समकालीन भयावह दौर में संक्रमित करता है जब मनुष्य और प्रकृति का आदिम बर्बर संघर्ष जारी था। मानवीय विकास ने अभी शिकार के आगे की मंजिल तय नहीं की थी। मनुष्य ख़ुद अभी जंगल से निकलकर किसी प्रथम मानवीय समुदाय के रूप में स्वयं को गठित नहीं कर सका था। तब उस आदिम समय में तेंदुए और मनुष्य की लड़ाई में कई बार तेंदुए की ही जीत हो जाती थी। इस कविता के विधान में आदिम बर्बरता की यही स्मृतिजन्य कल्पना आपातकाल के दौरान बर्बर सत्ता और लहूलुहान मनुष्यता के बीच संघर्ष का बिंबमय रूपक बन जाती है। चट्टानों पर सो रहे काले तेंदुए का जागना, अंगड़ाई लेना, दौड़ना और शिकार को झिंझोड़ने की क्रियाएं क्रमिक और ब्यौरेवार ढंग से आतंक का बिंबात्मक आख्यान रचती हैं जिससे स्थितियों की भयावहता घनीभूत हो जाती है—

चट्टानों पर सो रहा है काला तेंदुआ
चट्टानों का रंग काला है
चट्टानों पर अंगड़ाई ले रहा है
काला तेंदुआ

चट्टानों का रंग बदल रहा है
चट्टानों पर दौड़ रहा है
काला तेंदुआ
चट्टानों का रंग बदल रहा है
चट्टानों पर झिंझोड़ रहा है अपना शिकार
काला तेंदुआ
चट्टानें चट्टानें नहीं रही
तेंदुओं में बदल गई
एक तेंदुआ
सारे जंगल को
काले तेंदुओं में बदल रहा है। [27]

यहां चट्टानों का रंग बदलना और सारे जंगल का काले तेंदुओं में बदल जाना समाज और सभ्यता पर छाते जा रहे बर्बर सत्ता के सर्वातिशायी आतंक को मूर्तिमान करता है। ध्वनि और क्रियाओं के साथ-साथ रंगों के सारभूत प्रभावों को सर्वेश्वर ऐंद्रिय सघनता में अचूक ढंग से पकड़ लेते हैं। तेंदुए का कालापन उसकी समस्त पाशविक क्रियाओं की भयावहता को ही नहीं बल्कि जंगल और चट्टानों (परिवेश) में फैलती भयानकता के प्रभाव को गाढ़ा करता है। फैलना और छा जाना रंग का चरित्र है—इसीलिए यहां कालापन तेंदुए जंगल और चट्टान सबमें क्रमिक ढंग से व्यापते आतंक को मूर्तिमान करता है—

सांझ के झुटपुटे में
अपने शिकार को ठिकाने लगा
सुर्ख पथरीली नदी में
पानी पीता है
काला तेंदुआ।
यह नदी
उसका अतीत है
उसका वर्तमान है
उसका भविष्य है।
युगों से
इस नदी के सहारे
काले जंगल की धड़कन में
बदल जाता है काला तेंदुआ। [28]

इस तरह पशु जगत के बिम्ब और जंगल का आतंक एकदम संघनित होकर जिस भय को निर्मित करते हैं वह पशु जगत की हरकतों और तनावों का ही लोक नहीं है। तेंदुआ जंगल के बीहड़ों से निकलकर हमारी चेतना पर छा जाता है।

संदर्भ सूची :

1 सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, लीक पर वे चलें, एक सूनी नाव, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, सं. वीरेंद्र जैन, वाणी प्रकाशन, 2004, पृ. 263
2 सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भूख, जंगल का दर्द, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-2, सं. वीरेंद्र जैन, वाणी प्रकाशन, 2004, पृ. 106
3 सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, खाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएं, काठ की घंटियां, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, सं. वीरेंद्र जैन, वाणी प्रकाशन, 2004, पृ. 121
4 वही, चुपाई मारौ दुलहिन, पृ. 131
5 वही, पृ. 132-133
6 वही, पृ. 134
7 वही, सौन्दर्यबोध, पृ. 138
8 वही, पृ. 224
9 वही, सर्पमुख के सम्मुख, पृ. 226-227
10 अवध और भोजपुरी क्षेत्र में बच्चों के लिए गाया जाने वाला लोकगीत
11 सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, घन्त-मन्त, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, सं. वीरेंद्र जैन, वाणी प्रकाशन, 2004, पृ. 292
12 वही, धीरे-धीरे, पृ. 311
13 वही, पृ. 312
14 वही, यह खिड़की, पृ. 315
15 वही, पृ. 315-316
16 वही, पंचधातु, पृ. 327
17 राजाराम भादू, भेड़िया: समय की शक्ल, कविता के सौ बरस, सं. लीलाधर मंडलोई, शिल्पायन, दिल्ली, 2008, पृ. 163
18 सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भेड़िया-1, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-2, सं. वीरेंद्र जैन, वाणी प्रकाशन, 2004, भाग 2, पृ. 100
19 राजाराम भादू, भेड़िया: समय की शक्ल, कविता के सौ बरस, सं. लीलाधर मंडलोई, शिल्पायन, दिल्ली, 2008, पृ. 165
20 ग. मा. मुक्तिबोध, भूल-गलती, मुक्तिबोध रचनावली खंड 2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ. 390
21 सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भेड़िया-1, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-2, सं. वीरेंद्र जैन, वाणी प्रकाशन, 2004, भाग 2, पृ. 101
22 वही, भेड़िया-3, पृ. 102
23 वही, कुत्ता-1, पृ. 113
24 वही, कुत्ता-2, पृ. 114
25 सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कुत्ता-3, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-2, सं. वीरेंद्र जैन, वाणी प्रकाशन, 2004, भाग 2, पृ. 115
26 वही, काला तेंदुआ-1, पृ. 124
27 वही, काला तेंदुआ-2, पृ. 125

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

दलित साहित्य की वैचारिक बहस के कुछ आयाम

डॉ. दीपक सिंह*

हिन्दी में दलित विमर्श की शुरुआत मोटे तौर पर अस्सी के दशक से मानी जा सकती है। पिछले लगभग तीस–पैंतीस वर्षों में इसने एक ठोस यात्रा तय की है। परंपरागत सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों के साथ इसकी टकराहट ने वैचारिकी के क्षेत्र में गंभीर उथल–पुथल मचाई है। हिन्दी में बहुतेरे साहित्यिक आंदोलन हुए लेकिन संत साहित्य के बाद केवल दलित आंदोलन ऐसा है जिसने साहित्य और विमर्श की जमीन को पूरी तरह बदल कर रख दिया है। यह बात कहते हुए मैं न तो प्रगतिशील आंदोलन को भूल रहा हूँ और न ही निराला, प्रेमचंद्र, नागार्जुन जैसे रचनाकारों के योगदान को कम कर के आंक रहा हूँ। हर युग में साहित्य की जमीन बदली है उसके मूल्यांकन के औजार बदले हैं लेकिन दलित विमर्श जिस बदलाव की आकांक्षा को लेकर आगे बढ़ रहा है वह इन सबसे आगे की चीज है। दलित विमर्श की शुरुआत नकार से होती है, यहाँ साहित्य यश, सम्मान, आनंद, कल्याण के लिए न होकर संघर्ष के लिए है, बराबरी के हक के लिए है। दलित यथार्थ की परतें हमें उस संसार की तरफ ले जाती है जहां श्रम की अमानवीयता है, मरे हुए जानवर का मांस है, गोबर से बीने हुए गेहूं की रोटी है और न जाने कितना कुछ है। यह पूरी दुनिया लगभग अछूती रही थी थोड़ा बहुत प्रेमचंद और नागार्जुन जैसे संवेदनशील कलाकारों ने उसे छुआ था। मार्क्सवाद के प्रभाव में बहुत सारे साहित्यकारों ने मजदूर मेहनतकश जनता को साहित्य के केन्द्र में ला खड़ा किया। इन साहित्यकारों ने श्रम के सौंदर्य को महिमा मंडित किया, सामंतवाद पूंजीवाद के खिलाफ संघर्ष की आवाज को बुलंद किया मतलब वर्गसंघर्ष केा अपने साहित्य सृजन का आधार बनाया। हिन्दी क्षेत्र के लिए यह बड़ी परिघटना थी लेकिन साहित्य की यह धारा भी श्रम की अमानवीयता तक नही पहुंच सकी, जातीय उत्पीड़न से उपजी हजारों पीड़ाओं को स्वर देने में नाकाम ही रही। यही वह कारण है कि दलित साहित्य ने सबसे पहले स्वानुभूति के आधार पर स्वयं को साहित्य की अन्य धाराओं से अलगाया तथा स्व और अन्य की जो बहस ज्योतिबा फुले और अंबेडकर के यहाँ शुरू हुई थी उसी को आधार बनाकर अपनी अस्मिता व पहचान को निर्मित किया।

हिन्दी क्षेत्र मे दलित साहित्य के उभार के साथ ही कई और घटनाएँ घट रहीं थी एक तरफ मण्डल कमीशन की सिफारिशों के खिलाफ उग्र सवर्ण आंदोलन था तो दूसरी ओर उग्र धार्मिकता के जरिए सांप्रदायिक माहौल बनाया जा रहा था और इन्हीं सब के बीच भारत में वैश्वीकरण और उदारीकरण का घोड़ा भी प्रवेश कर चुका था। कहने का मतलब दलित वैचारिकी का रास्ता आसान नहीं था उस पर इन तमाम परिघटनाओं का गहरा असर पड़ा है और इसे लेकर दलित साहित्य में गंभीर बहस भी छिड़ी है। दलित साहित्य के साथ सबसे शानदार बात यह रही कि इसने कभी बहस से किनारा नहीं किया बल्कि हर सवाल पर गहरे विमर्श को जन्म दिया मसलन अंग्रेज न आए होते तो दलितों का क्या होता ? बाजार और दलित मुक्ति, दलित कौन है ? राष्ट्र, धर्म, जैसे मुद्दों के साथ–साथ दलित साहित्य क्या है ? कौन लिख सकता है ? आदि–आदि। यहाँ पर हम मुख्य रूप से दो बहसों को देखने का प्रयास करेंगे पहला दलित विमर्श में मौजूद स्व और अन्य की परिकल्पना और दूसरा दलित साहित्य कौन लिख सकता है ?

सबसे पहले हम यह देखने का प्रयास करते है कि दलित कौन ? यह दलित विमर्श की आधारभूत बहस है शब्दकोशीय अर्थ के अनुसार दलित शब्द का आशय है—जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ,

सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शा. नवीन महाविद्यालय, खड़गवां, जिला कोरिया (छ.ग.)
मोबाइल : 7587305846
ई–मेल : deepak8768@gmail.com

गिराया हुआ, उपेक्षित घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनष्ट, मर्दित, पस्तहिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।''[1] यहाँ दलित शब्द का बहुत ही व्यापक अर्थ लिया गया है जिससे समकालीन संदर्भ में दलित शब्द की समुचित परिभाषा निश्चित नहीं की जा सकती। दलित चिंतक कंवल भारती ने दलित शब्द के समकालीन संदर्भ को व्याख्यायित करते हुए लिखा है— दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया। जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर अछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की। वही और वही दलित है और इसके अंतर्गत वही जातियाँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।''[2]

दलित अस्मिता के निर्माण हेतु 'अन्य' का निर्धारण आवश्यक है क्योंकि बिला अन्य के निर्धारण के स्व को परिभाषित नहीं किया जा सकता। दलित वैचारिकी में अन्य के निर्धारण की बहस ऐतिहासिक संदर्भ लिए हुए है। ज्योतिबा फुले और अंबेडकर ने शूद्र कौन हैं? इसकी व्यापक पड़ताल की है। महात्मा फुले ने स्व को निर्धारित करने के क्रम में ब्राह्मण संस्कृति को अन्य बताया। फुले द्वारा किए गए इस अन्यकरण के कई पहलू उभरकर सामने आते हैं, एक तो ब्राह्मणों से इतर बाकी समस्त भारतीय समाज के लोग एक से माने गए। दूसरी ओर ब्राह्मणों को आर्य बताकर अनार्य अस्मिता को परिभाषित किया गया, इसी की अगली कड़ी में उन्हें ईरान से आया विदेशी कहकर देशी अस्मिता को परिभाषित करने का प्रयास किया गया। इसमें एक पहलू और जुड़ता है जिसका संबंध श्रम से है, ब्राह्मण दूसरे या अन्य इसलिए भी हैं क्योंकि वे स्वयं श्रम नही करते बल्कि अन्य लोगों के श्रम पर पलतें हैं। ऐसे में परजीवी और श्रमशील जातियों का अंतर्विरोध भी यहाँ देखा जा सकता हैं। स्पष्ट है कि फुले गैरब्राह्मण, अनार्य, देशी, श्रमजीवी के रूप में आत्म पहचान या अस्मिता को परिभाषित करते हैं जो हजारों साल के शोषण और दमन के विरूद्ध है। अंग्रेज भी अन्य हैं लेकिन स्व परिभाषा के लिए उनकी अन्यता का कोई महत्व नहीं है। अन्यकरण उसका किया जाता है जो भीतर का हो, नजदीक हो, और अब तक एक ही स्व का हिस्सा रहा हो। अन्यकरण एक सायास, सचेत प्रक्रिया है। अंग्रेजों का बाहरीपन या उनकी अन्यता भारत के किसी भी समुदाय के लिए स्वत: सिद्ध चीज थी इसलिए सामुदायिक अस्मिता के निर्माण में इसका कोई उपयोग नहीं था किन्तु ब्राह्मण जो कि एक ही विराट देशी समुदाय के अंग थे उनका अन्यकरण शूद्रों, अतिशूद्रों की अस्मिता निर्माण के लिए आवश्यक था। गुलामगीरी में फुले संवाद के माध्यम से कहते हैं—''जोतीराव: वास्तव में हर दृष्टि से सोचने के बाद हम इस निर्णय पर पहुंचते है कि ब्राह्मण लोग समुद्र पार जो इराण नाम का देश है, वहॉ के मूल निवासी हैं। पहले जमाने में उन्हें इराणी या आर्य कहा जाता था। इस मत का प्रतिपादन कई अंग्रेज ग्रंथकारों ने उन्हीं के ग्रन्थों के आधार पर किया है।''[3] इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए वे ब्राह्मणों के उत्पत्ति की विस्तृत व्याख्या करते हैं। तथा ब्राह्मणों द्वारा असुर करार दिए गए राजा बली आदि को वास्तविक नायक घोषित करते हैं। श्रम के आधार पर ब्राह्मणों का अन्यकरण करते हुए ब्राह्मणों की चालाकी में फुले कहते हैं—

''कैसा तेरा धर्म। समझने दे मर्म।।
भिक्षा शूद्र की ही खाते हो।
किसकों अपना खास धर्म कहते हो।
छोड़ो गर्व को। लग जा मार्ग को।।
ज्ला दें इस झूठे धर्म को।
संभाला बहुत एकता को।''[4]

डॉ. अंबेडकर भी फुले द्वारा शुरू की गई ब्राह्मणों के अन्यकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं लेकिन वे आर्य और अनार्य की फुले द्वारा निर्मित कोटि से सहमति नहीं रखते तथा उन्हें विदेशी भी नही मानते। अंबेडकर शूद्रों को आर्य मानते हैं लेकिन वर्ण व्यवस्था में चौथे पायदान पर होने तथा उनकों अनेक सामाजिक कार्यों से च्युत करने का दोषी ब्राह्मणों को ही मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि शूद्रों को चौथे पायदान पर धकेलने के बाद ब्राह्मणों ने अनेक धर्म ग्रन्थों के माध्यम से ऐसी व्यवस्था बनाई जिससे उनके मनुष्य होने का अधिकार जाता रहा। अंबेडकर आगे चलकर 'हिन्दू परंपरा' कहकर संबोधित करते है तथा शूद्रों के बरअक्स 'अन्य' के रूप में इसको रेखांकित करते हैं। इस रेखांकन के क्रम में वे हिन्दू देवी-देवताओं और शूद्रों के देवताओं के बीच फर्क को भी आधार बनाते है। अंबेडकर के यहाँ दलित अस्मिता के निर्धारण में हिन्दू परंपरा का 'अन्यकरण' बहुत ही महत्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु है और शायद इसीलिए वे 1956 में बौद्ध धर्म ग्रहण कर एक बड़ा संदेश देने का प्रयास करते हैं। डॉ. अंबेडकर इस बात को जानते थे कि हिन्दू परंपरा का अन्यकरण किए बिना दलित मुक्ति की लड़ाई नही लड़ी जा सकती।

वर्तमान संदर्भों में देखें तो दलित साहित्य फुले और अंबेडकर द्वारा निर्मित इसी वैचारिकी को लेकर आगे बढ़ता हैं। वह अपनी दासता का आदि कारण ब्राह्मणों को ही मानता

है और इतना ही नहीं ब्राह्मणवादी व्यवस्था का अंत होने तक संघर्षरत रहने की घोषणा भी करता है। मलखान सिंह अपनी कविता 'सुनो ब्राह्मण' में कहते हैं—

हमारी दासता का सफर
तुम्हारे जन्म से शुरू होता है
और इसका अंत भी
तुम्हारे अंत के साथ होगा।''[5]

इसी कविता के अगले भाग में मलखान सिंह ब्राह्मणों को चुनौती देते हुए कहते हैं—

एक दिन
अपनी जनानी को
हमारी जनानी के साथ
मैला कमाने भेजो।
तुम मेरे साथ आओ
चमड़ा पकाएंगे दोनो मिल बैठ कर।
... ...
तभी जान पाओगे तुम
जीवन गंध को
बलवती होती है
जो देह की गंध से''[6]

मलखान सिंह की कविता को दलित साहित्य के भीतर 'स्व' और 'अन्य' को परिभाषित करने वाले रूपक के बतौर देखा जा सकता हैं। दलित साहित्यकारों ने स्व और अन्य के बोध को बहुत गहराई से आत्मसात किया है जिसकी अभिव्यक्ति दलित कहानियों, आत्मकथाओं और कविताओं में व्यापक रूप से हुई है।

दलित साहित्य है क्या? इसे कौन लिख सकता है? इन प्रश्नों पर हमें एक लंबी बहस देखने को मिलती है। स्व और अन्य के मुहावरे में देखें तो भी हमें सचेत अन्यकरण दिखाई पड़ता है। दलित चिंतक दलित चेतना, स्वानुभूति, भोगा हुआ यथार्थ जैसी कोटियों के माध्यम से अब तक रचे गए साहित्य से अपना स्पष्ट अलगाव घोषित करते हैं- ''साहित्य उसके लिए कल्पनाओं की विस्तृत ऊँचाई है, जहाँ खड़े होकर कल्पना के बलबूते पर वह तमाम दुनिया के यथार्थ को देख लेने की क्षमता का भ्रम पाले हुए है।''[7] अपने अलगाव को स्पष्ट करने के क्रम में लगभग सभी दलित चिंतक साहित्य को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। कंवल भारती ने दलित साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा है दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा हैं, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला नहीं, बल्कि जीवन और जिजीविषा का साहित्य है। इसलिए कहना न होगा कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है।''[8] यहाँ हमें अलगाव के साथ लगाव के भी कुछ सूत्र मिलते है 'कला कला के लिये नहीं' प्रगतिशील आंदोलन के मुख्य नारों में एक था और शायद यही कारण है कि दलित विमर्श प्रगतिशील आंदोलन के साथ गंभीर बहस में उतरता है। इस बहस को यहीं छोड़ दे तो हम पाते है कि भोगे हुए यथार्थ का वर्णन ही अलगाव का केन्द्रीय तथ्य है। अब सवाल यह उठता है कि क्या दलित जाति में जन्मा कोई भी व्यक्ति यदि वह भोगे हुए यथार्थ का वर्णन करता है तो उसे दलित साहित्य मान लिया जाएगा? इस प्रश्न का उत्तर दलित साहित्य ने अपने आन्दोलनात्मक इतिहास में ढूंढा है और साफ तौर पर रेखांकित किया है कि दलित की व्यथा, दुख, पीडा, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित चेतना नहीं है, या दलित पीड़ा का भावुक और अश्रु विगलित वर्णन, जो मौलिक चेतना से विहीन हो, चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से हेाता है जो दलित की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका के तिलिस्म को तोड़ती है, वह है दलित चेतना।''[9] दरअसल दलित साहित्य का संबंध अंबेडकर वाद द्वारा निर्मित उस चेतना से है जो विद्रोह और नकार को लेकर आगे बढ़ती है। यह चेतना दलितों को अपनी दुर्दशा के मानवकृत कारण को समझने में मदद करती है और उसे आत्म बोध के उस स्तर पर ले जाती है जहां से वह तथाकथित सभ्य समाज को प्रश्नांकित करने का ज्ञानात्मक बोध अर्जित करता हैं। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व जैसे मूल्यों की उसकी मांग और उसके लिए संघर्ष इसी ज्ञानात्मक निर्मिति का प्रतिफलन है।

दलित साहित्य केवल दलित ही लिख सकता है यह बात एक ऐतिहासिक विचारक्रम की उपज है। यह कोई एका-एक प्रकट हुआ नारा नहीं था बल्कि इसके पीछे एक सुचिन्तित राजनीति काम कर रही थी और इस राजनीति की यह सफलता ही कही जाएगी उसने आंदोलन की बागडोर अपने हाथों में रखी। तमाम आरोपों-प्रत्यारोपों को झेलते हुए विमर्श और राजनीति के नाजुक संतुलन को साध कर आज वह बेहतर विश्लेषण व आत्मविश्लेषण की ओर बढ़ चुका है। बहरहाल हिन्दी में

दलित साहित्य को लेकर मुख्यत: तीन तरह की प्रतिक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। एक तो यह कि साहित्य दलित अदलित नहीं होता। कई बार यहाँ तक कहा जाता है कि साहित्य ही दलित होता है इसलिए साहित्य सृजन में दलित-अदलित जैसा प्रश्न बेमानी है। यह वह धारा है जो छिपे ढंग से दलित साहित्य को ही नकार देना चाहती है। इस पर मराठी साहित्यकार शरण लिबांले प्रश्न उठाते हुए लिखते है संत साहित्य के संदर्भ में प्राचीन से अर्वाचीन काल तक साहित्य संत हो सकता है? ऐसा प्रश्न कभी भी उपस्थित नहीं हुआ। लेकिन दलित साहित्य के संदर्भ में केवल साहित्य दलित होता है ऐसा प्रश्न उपस्थित होते हुए दीख पड़ता है। साहित्य दलित नहीं होता पर दलितों का साहित्य हो सकता है क्योंकि दलित जाति-जमात यहाँ की धर्म व्यवस्था में से पैदा हुई, तुम श्रेणी बद्ध समाज व्यवस्था जारी रखोगे, ऊंच-नीच भाव परोसते रहोगे और दलित साहित्य ऐसा न कहे, ऐसा आग्रह करते रहोगे यह कैसे होगा?''[10] दूसरी धारा स्वयं दलित साहित्यकारों की है जिसमें लगभग इस बात का एका है कि दलित साहित्य दलित ही लिख सकता है। कुछ थोडे विरोधी स्वर भी है लेकिन वे दलित साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। तीसरी तरह की प्रतिक्रिया दलित साहित्य को स्वीकार करती है और उदारतापूर्वक उसका स्वागत भी करती है लेकिन इस धारा में दो तरह के मत देखने को मिलते हैं। कुछ लोग अनुभव से उपजे साहित्य को सच्चा दलित साहित्य मानने के पक्षधर हैं तो दूसरे वे है जो इस तरह के विभाजन को उचित नहीं मानते। इन दोनों धाराओं के प्रतिनिधित्व के तौर पर हम मैनेजर पाण्डेय तथा नामवर सिंह को देख सकते हैं। मैनेजर पाण्डेय ने स्वानुभूति पर बल देते हुए लिखा है जहां तक दलित साहित्य की अवधारणा की बात है तो दलित साहित्य को दो रूपों में देखा जा सकता है। एक तो दलितों के द्वारा दलितो के बारे में दलितों के लिए लिखा गया साहित्य और दूसरा दलितों के बारे में गैर-दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य। मेरे विचार में करूणा और सहानुभूति के सहारे गैर दलित लेखक भी दलितों के बारें मे अच्छा सहित्य लिख सकतें है लेकिन दलित साहित्य वही हैं, जो दलितों द्वारा अपने बारे में या सवर्ण के बारे में लिखा जाता है, क्योंकि ऐसा साहित्य सहानुभूति या करूणा से नहीं, बल्कि स्वानुभूति से उपजा होता है।''[11] नामवर जी भी इस बात को मानते है दलित होना व्यक्ति की ऐसी हकीकत है और अनुभव है कि जो दलित होने के कारण उसे जिन चीजों से गुजरना पड़ता है उसका प्रत्यक्ष अनुभव स्वयं दलित को जैसा है, वह अपनी पूरी अनुभूतियों व अपनी कल्पना का विस्तार करने के बावजूद मैं जो गैर दलित हूँ, उस अनुभव की तीव्रता और तनाव को मैं अपने आप को अनुभव नहीं करा सकता।[12] लेकिन इसके साथ ही नामवर जी यह कहते है कि साहित्य में आरक्षण नहीं होता। ओमप्रकाश वाल्मीकि नामवर जी की इस अवधारणा को नेतृत्व के संकट से जोड़ते हैं, जिसके पीछे उनकी अपनी राजनीतिक समझ हैं। दलित राजनीति और दलित साहित्य दोनों का वामपंथ के साथ नेतृत्व को लेकर एक बड़ा मतभेद है। दलित साहित्य ने वामपंथ के सामने हमेशा यह सवाल खड़ा किया है कि आज तक भारत में वामपंथ के भीतर दलित नेतृत्व क्यों नहीं पैदा हो सका? और इसी नजरिए से वह इस धारा को ज़्यादा ख़तरनाक मानता है, उसे लगता है कि यह धारा कहीं न कहीं दलित आन्दोलन का अगुआ सवर्णों को ही स्वीकार करती है।

भोगे हुए यथार्थ को प्रश्नांकित करते हुए अक्सर एक सवाल उठाया जाता है कि दलित साहित्य की अब तक की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि आत्मकथाएं ही हैं, तो क्या किसी एक व्यक्ति का अनुभव पूरे समाज का अनुभव हो सकता हैं? और इस बात का उत्तर तब और दिक़्क़त तलब हो जाता है जब दलित वर्ग का अभिव्यक्ति सम्पन्न तबका स्वयं ही अपने समाज से ख़ुद को काट लेता है, तो फिर अतीत की स्मृति ही उसके धरोहर के रूप मे बची रह जाती है। फिलहाल यदि यह मान लिया जाता है कि वह भोगे हुए अतीत की स्मृति ही है, तब भी दलित समाज में जो पीड़ा व्यक्तिगत है कमोबेश वह सामाजिक भी है ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते है दलित रचनाकार अपने परिवेश एवं समाज के गहरे सरोकारों से जुड़ा है। वह अपने निजी दुखों से ज़्यादा समाज की पीड़ा को महत्ता देता है। जब वह मैं शब्द का प्रयोग कर रहा होता है तो उसका अर्थ हम ही होता है, सामाजिक चेतना उसके लिए सर्वोपरि है, अपने समाज के दुख दर्द उसे ज़्यादा पीड़ा देते है। उनके उन्मूलन के लिए ही उसने लेखन का रास्ता चुना है। अपनी अभिव्यक्ति में वह समाज की पीड़ा उकेर रहा है इसलिए वह ज़्यादा प्रामाणिक है।''[13] फिलहाल दलित जीवन की स्थितियों को देखते हुए इस बात से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है। दलित साहित्य को लेकर हिन्दी जगत में चली इस व्यापक बहस को वीर भारत तलवार ने ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है दलितों के साथ सहानुभूति होने और प्रगतिशील विचारधारा होने की वजह से कुछ लेखकों ने कहा कि दलित साहित्य हम लोग भी लिखते रहें हैं। पर यह गौरतलब है कि हिन्दी में दलित साहित्य की आवाज एक आंदोलन के रूप में पहली बार दलित लेखकों ने उठाई। आज

भी इसके लिए चल रहे संघर्ष में उन्हीं का हाथ सबसे ज़्यादा है और होना भी चाहिए। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी यह बात सही है कि दलित साहित्य दलित जाति से आए लेखकों का साहित्य हैं। आज के दलित साहित्य को इसी ऐतिहासिकता के संदर्भ में देखा जाना चाहिए।''[14] आज दलित साहित्य वेदना और नकार से आगे बढ़कर विश्लेषण के चरण में पहुंच चुका है और यह मानने को तैयार है कि साहित्य सृजन के कई स्रोत हो सकते हैं। इस संदर्भ में गंगाधर पानतावडे से बजरंग तिवारी की बात-चीत का उल्लेख किया जा सकता है पानतावाड़े जी साहित्य के तीन स्रोत मानते हैं—1. स्वयं जानकर, भोगकर प्राप्त किया गया अनुभव 2. दूसरे को देख कर, समझकर संवेदना के जरिये प्राप्त ज्ञान, अप्रत्यक्ष अनुभव तथा 3. कल्पना करके। कल्पना का सच से कोई सीधा रिश्ता नहीं होता। बाकी दो को पानतावड़े जी जाणीव तथा सहजाणीव कहते है: 'जाणीव से ही साहित्य रचा जा सकता है। लेकिन सहजाणीव (संवेदना) का साहित्य झूठा नही होता। वह भी सच है लेकिन अनुभव के ताप से रहित। प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि का यही फर्क समझना चाहिए।''[15]

दलित साहित्य के भीतर सहानुभूति की जगह स्वानुभूति, शिल्प और कला की जगह अंतर्वस्तु की प्राथमिकता, मनोरंजन या आनंद की जगह संघर्ष और पीड़ा का घोष उसे एक क्रांतिकारी स्वर प्रदान करता है। साहित्य के बने-बनाए ढांचे में दलित साहित्य को जगह मिलनी संभव नहीं थी उसे अपनी जमीन ख़ुद ही तैयार करनी थी अत: उसे अन्य से अलग होना भी था और दिखना भी था। शायद इसीलिए उसका आरंभिक स्वर बहुत ही ज़्यादा आक्रामक दिखाई पड़ता है। आज की स्थिति में दलित साहित्य एक मजबूत परिवर्तनकामी धारा के रूप में अपनी अलग पहचान स्थापित कर चुका है। इस समय वह बेहतर व्याख्या-विश्लेषण व आत्मालोचन की स्थिति में है। कई दलित चिंतकों ने अन्य परिवर्तन कामी धाराओं के साथ मजबूत एका बनाकर एक साझा संघर्ष खड़ा करने की वकालत की है। वर्ग और वर्ण का द्वंद धुल कर जय भीम कामरेड तक पहुंच गया है। मुक्त चिंतन और अभिव्यक्ति से लेकर खाने की आजादी की हत्या के इस दौर में दलित साहित्य और चिंतन भी एक ऐतिहासिक मोड़ पर खड़ा है। दरअसल यह नई जिम्मेदारियां और नए सोपान तय करने का दौर है। दलित साहित्य के अब तक के विकास क्रम को देखते हुए यह उम्मीद की जा सकती है कि जल्द ही वह संघर्ष के नए क्षेत्रों में प्रवेश करेगा।

संदर्भ-सूची

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 2001 पृ. 13
2. कंवल भारती: युद्धरत आम आदमी (अंक 41-42) 1998 पृ. 41
3. सं. एल.जी. मेश्राम, विमलकीर्ति, महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली (1) (गुलामगीरी) राधाकृष्ण प्रकाशन, संशोधित संस्करण 1996 पृ. 152
4. सं. एल.जी. मेश्राम, विमलकीर्ति, महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली (ब्राह्मण की चालाकी) राधाकृष्ण प्रकाशन, संशोधित संस्करण 1996 पृ. 101
5. सं. कंवल भारती: दलित निर्वाचित कविताएं, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद 2006 पृ. 48
6. वही पृ. 49
7. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 2001 पृ. 39
8. कंवल भारती : युद्धरत आम आदमी (अंक 41-42) 1998 पृ. 41
9. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 2001 पृ. 28-29
10. सं. चमनलाल: दलित अश्वेत साहित्य कुछ विचार, भारतीय उच्च संस्थान शिमला 2001 पृ. 23
11. सं. सदानंद शाही: दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, गोरखपुर 2005 पृ. 52
12. वही पृ. 192
13. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली 2001 पृ. 40
14. सं. चमनलाल: दलित अश्वेत साहित्य कुछ विचार, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला 2001 पृ. 45
15. बजरंग बिहारी तिवारी: दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा, नवारूण प्रकाशन, 2015 पृ. 24

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

हिन्दी कथा साहित्य में ग्राम

डॉ.रंजना पाण्डेय*

हिंदी कथा साहित्य में प्रेमचंद के पहले तक साहित्य को मनोरंजन के रूप में देखा जा रहा था। तिलिस्मी, जासूसी, ऐय्यारी उपन्यासों का बोलबाला था। देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की प्रसिद्धि का आलम यह था कि दूसरी भाषाओं के लोग 'चन्द्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' जैसे उपन्यासों को पढ़ने के लिए हिंदी सीख रहे थे। इनके उपन्यासों में उपदेशात्मक वृत्ति की प्रधानता न होने की वजह से पाठक अंग्रेजी, बांग्ला और मराठी के उपन्यासों सा लुत्फ उठाते थे। इनके पहले के उपन्यासों में इस तरह की कमजोरी होने की वजह से वह हिंदी पाठकों को अपनी तरफ आकर्षित नहीं कर सके। इसके बावजूद साहित्य का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन ही बना हुआ था। इस दौर के उपन्यासों में गाँव का जिक्र बहुत कम आया है। गाँवों की उपस्थिति केवल नकारात्मक रूप में हुई है। मसलन गाँव का उल्लेख अशिक्षा, अज्ञान, जादू-टोना, अनमेल विवाह, बाल विवाह आदि बुराइयों के केंद्र रूप में दिखाये गये हैं। प्रेमचन्द ने हिंदी में अपनी कथा यात्रा की शुरुआत 'सौत' कहानी से की और उपन्यास में 'सेवासदन' (1918) उनका पहला उपन्यास है। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य के माध्यम से साहित्य के प्रतिमान ही नहीं बदले अपितु पाठकों में एक नये तरह का साहित्य पढ़ने का चाव पैदा किया। कथाकार अमृतलाल नागर लिखते हैं, ''कथानायक और नायिका के महोच्च सिंहासन पर प्रेमचंद से पहले तक सदा राजे-राजकुमार, जमींदार, पढ़े-लिखे कुलीनों से नीची स्थिति का कोई पात्र न बैठ पाया था। भारतीय साहित्य में पहली बार प्रेमचन्द के सूर, घीसू, होरी, सिलिया, पठानी, गबन का नायक चुंगी क्लर्क जैसे पात्र नायक बने।'' (प्रेमचन्द से पहले का उपन्यास साहित्य, साहित्य और संस्कृति, राजपाल एंड संज कश्मीरी गेट दिल्ली, 1986, पृ. 19) प्रेमचन्द के साहित्य में गाँव का सीधा-सरल और विद्रूप दोनों रूप देखने को मिलते हैं। यह तथ्य उनके समूचे साहित्य पर लागू करके देखा जा सकता है। प्रेमचन्द साहित्य को जीवन के यथार्थ से जोड़ने के पक्षधर थे। वह साहित्य को मात्र कोरी कल्पनाओं तक सीमित करके नहीं रखना चाहते थे अपितु उसे जीवन की कड़वाहटों से जोड़कर समाज के सामने प्रस्तुत करते हैं। उनका तर्क है- ''यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अंधकार की ओर ही केंद्रित कर दें। अंधकार में मनुष्य को अंधकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है? बेशक चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी कभी-कभी आवश्यक होता है, लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाए, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शांत हो सकती है, किसी को नीच समझकर हम उसे ऊंचा नहीं बना सकते, बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर, यह कहने से बहादुर न हो जाएगा कि तुम कायर हो। हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य-सबकुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का संबंध सत्य और सुन्दर से है यह हमें नहीं भूलना चाहिए।'' दरअसल प्रेमचंद अब तक के साहित्य में समाज की जो छवि दिखाई जा रही थी और बाद में यथार्थवाद के नाम पर जो रचा जा रहा था, उन दोनों पर सवाल खड़े करते हैं। प्रेमचन्द के साहित्य में यथार्थ की जो तस्वीर उभरती है, वह अपने समय की प्रामाणिक सच्चाई बयान करती है। प्रेमाश्रम, रंगभूमि, गोदान उपन्यास तथा दूध का दाम, घासवाली, सवा सेर गेहूं, पूस की रात, कफन आदि कहानियों में किसान जीवन की विडंबनाओं को प्रेमचंद ने बहुत गहराई से अभिव्यक्त किया है। इस दौर का यदि सही से मूल्यांकन किया जाए तो पता चलता है कि यह दौर आजादी के आंदोलन का दौर है, जब महात्मा गांधी भारतीय राजनीति के क्षितिज पर अपना प्रभाव जमा रहे थे। गांधी जी ने राजनीति में सक्रिय होने पर कांग्रेस पार्टी के चरित्र को बदल दिया था। वह 'हिंद स्वराज' में भारत को 'गाँवों का देश' रूप में व्याख्यायित कर चुके थे। वह मानते थे, जब तक भारत

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दयालबाग शिक्षण संस्थान, दयालबाग़, आगरा

के गाँव समृद्ध नहीं होंगे तब तक भारत का विकास नहीं हो सकता। वह गाँव के लोगों को कांग्रेस पार्टी द्वारा चलाये जा रहे आंदोलनों से जोड़ने की रणनीति बनाते हैं। इसके लिए वह चवन्नियाँ सदस्यता का प्रावधान करते हैं। इसका मतलब यह है कि कोई भी सदस्य चवन्नी यानी पच्चीस पैसा देकर कांग्रेस का सदस्य हो सकता है। वह भी अंग्रेजी सरकार के ख़िलाफ़ चलाये जा रहे आंदोलन में अपनी भी सहभागिता कर सकता है। गांधी जी दरअसल आजादी के आंदोलन को आमजन से जोड़कर ही देखते थे। वह इस बात को लिखते भी हैं कि आजादी से सबसे ज़्यादा फायदा किसानों और मजदूरों को होगा, इसलिए सबसे अधिक जिम्मेदारी भी उन्हीं की बनती है। राजे-महाराजे अपने स्वार्थों के कारण आंदोलन का जहाँ तक बन पड़ेगा, कमजोर करने का ही प्रयास करेंगे। वह जानते हैं कि अंग्रेजों के जाने से उनके भी हित प्रभावित होगे, इसलिए वह हिस्सेदार नहीं बनेंगे। प्रेमचन्द जी गांधी जी से बहुत गहरे से प्रभावित थे। उनके साहित्य में इसकी झलक देख भी सकते हैं परंतु वह गांधी जी के सिद्धांतों के परे भी जाते हैं। वह हृदय परिवर्तन के सिद्धांत को पूरी तरह से स्वीकार नहीं करते। इसके साथ ही वह गाँव के जीवन को सीधा-सरल मात्र नहीं मानते। वह अपने अंतिम दौर के साहित्य में, गाँव के जीवन का जो चित्रण करते हैं, उसमें गाँव का ऐसा यथार्थ दिखाई पड़ता जो एक अलग तस्वीर प्रस्तुत करता है। इसे कुछ उद्धरणों से देख सकते हैं।

''कानून कहता है कि हम तुम आदमी हैं। हममे आदमियत कहां? आदमी वह है, जिसके पास धन है, अख्तियार है, इलम है। हम लोग तो बैल हैं और जुतने के लिए पैदा हुए हैं।'' (गोदान)

''अरे जो अल्लाह को यही मंजूर होता कि हम लोग इज्जत-आबरू से रहें तो काश्तकार क्यों बनाता? जमींदार न बनाता कि बैठे-बैठे दूसरों पर हुकुम चलाया करते। नहीं तो यह हाल है कि अपना कमाते हैं, फिर भी जिसे देखो धौंस जमाया करता है। सभी की गुलामी करनी पड़ती है। क्या जमींदार, क्या सरकार, क्या हाकिम सभी की निगाह हमारे ऊपर टेढ़ी है और शायद अल्लाह भी नाराज है। नहीं तो क्या हम आदमी नहीं है कि कोई हमसे बड़ा बुद्धिमान है। लेकिन रोकर क्या करें? कौन सुनता है? कौन देखता है?'' (प्रेमाश्रम)

प्रेमचन्द के साहित्य में किसान जीवन की त्रासदी को विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। इसमें किसी तरह का कोई छिपाव नहीं है और न ही किसी तरह की कोई आदर्श छवि निर्मित करने की बलात कोशिश। रचनाकार यदि अपने समय की आहटों को गौर से सुनता है तो उसका साहित्य अपने युग का महत्त्वपूर्ण साहित्य बन जाता है। प्रेमचन्द के इन विचारों को उस दौर के दूसरे अनुशासनों में लिखे गये साहित्य से भी पुष्ट किया जा सकता है। एन. के. बोस गांधी को उद्धृत करते हुए लिखते हैं-

''शहरों में दिखायी देने वाली धन दौलत से हमें धोखा नहीं खाना चाहिए। यह इंग्लैण्ड या अमेरिका से नहीं आती। यह सर्वाधिक गरीबों के खून से ही प्राप्त होती है। ऐसा कहा जाता है कि भारत में सात लाख गाँव हैं। किसी के पास इस बात का लेखा जोखा नहीं है कि इनमें से बंगाल और कर्नाटक और अन्य जगहों पर कितने हजार गाँव भूख और बीमारी से नष्ट हो गये। सरकारी रजिस्टर यह नहीं बता सकते कि ये ग्रामीण किन परिस्थितियों से गुजर रहे हैं। लेकिन स्वयं एक ग्रामीण होने के नाते मैं गाँव की दशा जानता हूं। मैं गाँवों की अर्थव्यवस्था जानता हूं। मैं आपको बताता हूं कि ऊपर का दबाव नीचे के लोगों को ही कुचलता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उनके सहारों को हटा दिया जाये।'' गोदान को पढ़ते हुए इस तथ्य को गहराई से समझ सकते हैं। होरी का अनवरत संघर्ष और इसके बावजूद उसका पराजित होना, इसके लिए रायसाहब से लेकर दातादीन, झिंगुरी सिंह, नोखे लाल, सहुआइन सभी जिम्मेदार हैं। यदि होरी इन सबके ख़िलाफ़ खड़े होने की हिम्मत जुटा पाता तो शोषण का अंत हो जाता। प्रेमचन्द होरी के चित्रण में किसी तरह की कोई जल्दबाजी नहीं दिखाते, वह उपन्यास में कोई क्रांतिकारी मोड़ भी निर्मित नहीं करते जिससे पाठक चौंक जाए। प्रेमचन्द समाज को बहुत गहरे से समझ-बूझ रहे थे, इसलिए चित्रण में यह सूझ दिखाई भी पड़ती है। प्रेमचन्द का किसान थकने के बावजूद अपने को हारा हुआ नहीं मानता। उसकी ज़िंदगी में हार के भाव आते हैं, पर वह उन्हें परे धकेलकर आगे बढ़ जाता है। होरी एक-एक करके संघर्ष में पराजित होता है, किसान से मजदूर बनने को मजबूर होता है, फिर भी अंतिम समय में उसको अपनी हार के अहसास से अधिक जीत का अहसास होता है। यह जीत है उस भारतीयता की जो आम जन में गहरे से बैठी हुई है। वह मजदूर हुआ तो क्या? उसके भाई उसके साथ हैं, पत्नी साथ है और उसका ईमान उसके साथ है। वह किसानी जीवन की छोटी-मोटी चालाकियाँ करने के बावजूद किसी को दु:खी करके अपने स्वार्थ पूरे करने वाला नहीं है। प्रेमचन्द ने गाँव के किसानों के भीतर बहती उस अजश्र धारा का ही नहीं उनके भीतर की कमजोरियों का भी उल्लेख किया है। इसीकारण प्रेमचन्द का महत्व अलग हैं। प्रेमचन्द इसीकारण साहित्य की धारा बदलने में सफल हो सके। इसके पहले तक जो पाठक ऐय्यारी, तिलिस्मी साहित्य से गहरे स्तर पर जुड़े हुए थे, वही प्रेमचंद के पाठक बन गये। इसीकारण कथा साहित्य में प्रेमचन्द के नाम से उस युग को जाना जाता है। इस युग के

अन्य रचनाकारों-शिवपूजन सहाय-देहाती दुनिया, सियाराम शरण गुप्त-गोद 1932, नारी 1937, वृन्दावन लाल वर्मा-लगन 1928, प्रेम की भेंट 1931 आदि ने गाँवों को आधार बनाकर उपन्यास और कहानियाँ रची हैं। शिवपूजन सहाय इस उपन्यास में ठेठ ग्रामीण भाषा में बिहार के रामसहर गाँव को केंद्र बनाकर कथानक बुना है। इस उपन्यास की भाषा और वर्णन की शैली बेजोड़ है। वह इस उपन्यास को लेकर किसी भी तरह की मौलिकता का कोई दावा नहीं करते। उपन्यास के सिहरन गाँव को भारतीय गाँव के रूप में रखकर भी देख सकते हैं। जहाँ सिर्फ अज्ञानता और गरीबी है। यह स्थिति किसी एक गाँव की नहीं है। प्रेमचन्द कफन कहानी में घीसू-माधव के माध्यम से जो सच्चाई बयान करते है, वह रोंगटे खड़ी कर देने वाली है। घीसू-माधव तो कामचोर हैं परंतु गाँव के बाकी लोग जो दिन-रात हाड़तोड़ मेहनत करते हैं, उनकी स्थिति और घीसू-माधव की स्थिति में कोई खास अंतर नहीं है। प्रेमचंद की नजर में घीसू-माधव समझदार लोग हैं, जो काम न करके ज़िंदगी बिताते हैं। वह मान-अपमान, इज्जत-मरजाद के भाव से मुक्त हो चुके हैं। क्या कफन कहानी में कम जहालत है? आखिर किस समय दोनो ने इस तरह की ज़िंदगी जीने का निर्णय लिया होगा? वह भी कई बार टूटे होंगे, अपने हालात पर रोये होंगे, पर जब आदमी कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता तो वह इस तरह की प्रवृत्ति धारण कर लेता है। आज भी भारतीय गाँव और शहर दोनों जगहों पर ऐसे चरित्रों को देखा जा सकता है। प्रेमचंद युग के रचनाकारों ने अलग-अलग ढंग से प्रेमचन्द द्वारा बनाए गए प्रतिमान पर ही उपन्यास रचे। यह धारा प्रेमचन्द के बाद से लेकर आज तक के उपन्यास साहित्य में दिखाई पड़ती है। आजादी के बाद के दौर में गाँवों को उपन्यासों में किस रूप में दर्ज किया गया है, इनकी विवेचना निम्न शीर्षकों के अंतर्गत की जा सकती है।

गाँव और राजनीति

आजादी के बाद गाँवों में जो राजनीति पैदा हो रही थी उसको केन्द्र बनाकर उस दौर के रचनाकारों ने उपन्यास रचे हैं। इन उपन्यासों में बलचनमा, वरुण के बेटे (नागार्जुन), सती मैया का चौरा (भैरव प्रसाद गुप्त), मैला आंचल (फणीश्वरनाथ रेणु), नदी फिर बह चली (हिमांशु श्रीवास्तव), बबूल (विवेकी राय), माटी की महक (सच्चिदानंद धूमकेतु) आदि उपन्यासों में गाँवों के यथार्थ को देखा जा सकता है। नागार्जुन 'वरुण के बेटे' उपन्यास में आजादी के बाद गाँव में किस तरह की राजनीति हो रही है, उसको दिखाया है। उपन्यास का पात्र मोहन मांझी पहले तो प्रजा समाजवादी पार्टी का सदस्य था लेकिन आजादी के बाद कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य हो गया। उपन्यासकार यह दिखाना चाहता है कि कैसे गाँव के लोग अपने हितों की हिसाब से अपनी विचारधार बदल रहे हैं। वहीं 'मैला आंचल' उपन्यास में रेणु ने आजादी के बाद गाँव की राजनीतिक सच्चाई का बयान किया है। वहाँ स्वार्थों के कारण लोगों का चारित्रिक पतन हो रहा है। बावनदास भी अपने को बचाने का बहुत प्रयास करने के बावजूद बचा नहीं पाता। उसके विचारों को समझने वाला अब कोई नहीं है। जमींदारी प्रथा का भले ही उन्मूलन हो चुका हो लेकिन उसकी काट कैसे गाँव के लोगों ने निकाल ली है, इसे उपन्यास के मार्फत समझ सकते हैं। उपन्यास पात्र विश्वंभरनाथ के माध्यम से रेणु जमींदारों के चरित्र को स्पष्ट करते हैं, जो अपने स्वार्थ में इतना गिर जाता है कि वह संथालों पर गोलियाँ चलाने में भी संकोच नहीं करता, जबकि सच्चाई यह है कि जिन धान के खेतों को लेकर वह संथालों पर अत्याचार करता है, वह संथालों को पट्टे में मिली जमीनें हैं, परंतु यह बात वह स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है। संथालों का साथ देने वाला कोई नहीं है। बावनदास, कालीचरन अपने-अपने स्वार्थों में घिर चुके हैं। बावनदास की हालत तो यह हो चुकी है कि चरखा मास्टरनी से प्रेम करने के कारण वह अपना महत्व खो बैठते हैं। अंत में उसे वहाँ का राशन माफिया गाड़ियाँ चढ़ाकर खत्म कर देता है। यह उपन्यास एक ऐसी सच्चाई बयान करता है, जिसकी कल्पना आजादी के नेताओं ने नहीं की थी। इस स्थिति को दूसरे उपन्यासों में भी देखा जा सकता है।

गाँव का समाज

आजादी के बाद भारतीय गाँवो की संरचना बदल गई है। गाँव अब सीधे-साधे लोगों के रहने का स्थान मात्र नहीं रह गये हैं। वहाँ अब शहर की बहुत सी बुराइयाँ एक नए रूप में आ गई हैं। गाँव के समाज को लेकर उपन्यासकारों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपन्यास-बया का घौंसला और सांप (लक्ष्मीनारायण लाल), परती-परिकथा (फणीश्वरनाथ रेणु), रीछ (विश्वम्भरनाथ उपाध्याय), पानी के प्राचीर (रामदरश मिश्र) आदि रचे हैं। इन उपन्यासों में इस बदलाव को देख सकते हैं। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय अपने उपन्यास 'रीछ' में इस बदलाव को बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। गाँव वालों की ''चेतना और निजी शत्रुता और मित्रता का इतना घोर असर है कि उसे हटा देना, मुश्किल काम है। ऊपर से थोपे गए सुधार इसीलिए कामयाब नहीं हो पाते क्योंकि हर एक काम में यह परम्परागत वैर-भाव आड़े आता है। किसी को मार डालना या मर जाना बहुत सहज है।...गाँव की चेतना के वृत्त भी कम विषम नहीं है जो इसे ऊपर से सरल देखते हैं, वे गलती करते हैं। किसी व्याख्यान से या इनकी निंदा प्रशंसा से इन्हें बदलना नामुमकिन लगता है, इसके

लिए तिल-तिल जूझना होगा, इस विषय को पाना होगा। प्रकाश फैलाने के लिए इस अंधेरे में जो वर्षों से नहीं रहेगा वह यहाँ आलोक नहीं ला सकता।'' इससे पता चलता है कि गाँव कैसे बदल रहे हैं। प्रेमचंद ने गोदान में इस बात का संकेत विभिन्न पात्रों और बेलारी गाँव के वर्णन में दे दिया था कि भविष्य के भारतीय गाँव किस रूप में दिखाई पड़ेगे। इस बदलाव को रामदरश मिश्र जी ने 'जल टूटता हुआ' उपन्यास में भी व्यक्त किया है। उपन्यास पात्र सतीश गाँव की स्थिति को लेकर कहता है। गाँव के लोग ''अब तो एक-दूसरे की जमीन लिखाने में, एक दूसरे का खेत बढ़कर जोत लेने में, एक-दूसरे से बढ़कर संचय कर लेने में, स्वार्थ साधने में, अपकार करने में, एक-दूसरे को पीछे छोड़ना चाहते हैं।''

इससे पता चलता है कि गाँव कहाँ पहुंच गये हैं। गाँव के आपसी संबंधों में भी बदलाव हो रहा है। अब पिता-पुत्र के संबंध इस तरह बदल चुके है कि पुत्र अपने पिता की हत्या आदि करने से भी पीछे नहीं हटता। वहीं सेक्स संबंधों में भी पहले की तुलना में बदलाव दिखाई पड़ते हैं। इन सभी बदलावों को उपन्यासों में गहरे स्तर पर विवेचित किया गया है।

गाँव पर पंचायती राज का प्रभाव

सत्ता का विकन्द्रीकरण करने के लिए पंचायती राज कानून लागू किया गया। इस कानून के बनने से गाँव की संरचना बदली और वहाँ विकास के नए अवसर भी उपलब्ध हुए। अब गाँव के लोगों द्वारा चुने गये प्रतिनिधि ही गाँव के विकास की रूपरेखा बना रहे थे। ग्रामीण समाज में जो बदलाव हुए इसको लेकर साहित्य भी रचा गया। इनमें प्रमुख हैं-रतिनाथ की चाची (नागार्जुन), जमींदार का बेटा (दयानंद झा), सूरज किरन की छांव (राजेन्द्र अवस्थी), सती मैया का चौरा (भैरव प्रसाद गुप्त), रीछ (विश्वंभरनाथ उपाध्याय), जुलूस (फणीश्वरनाथ रेणु), ग्राम सेविका (अमरकांत), नदी फिर बह चली (हिमांशु श्रीवास्तव), राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल) आदि। इन उपन्यासों में पंचायते किस तरह से जनता का शोषण कर रही है, इसे प्रामाणिक ढंग से रचा है। 'नदी फिर बह चली' उपन्यास में रचनाकार ने गाँवो में पंचायती राज आने के बाद सामंती व्यवस्था किस तरह टूट रही है, इसका वर्णन किया है। उपन्यास का गाँव चूरामनुपर जातीय राजनीति का गढ़ है। गाँव में राजपूत और भूमिहार ही वहाँ की राजनीति को संचालित करते हैं। यही दोनों जातियाँ एक-दूसरे को गिराने में अपनी शक्ति प्रदर्शित करती रहती हैं लेकिन पंचायती राज अधिनियम के लागू होने से गाँव की छोटी जाति के लोग भी चुनाव में हिस्सेदारी कर रहे हैं। ऐसे में गाँव पर प्रभुत्व का स्वरूप भी बदलने लगता है। उपन्यासकार ने इस बदलाव को प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त किया है। इन उच्च वर्ग के लोगों की कुंठा को उपन्यासकार ने, उनके ही द्वारा कुछ इस रूप में व्यक्त किया है :

''अब तो सबकी समझ में आने लगा है कि हक और बेहक किसे कहते हैं। कुरमी कुम्हार भी अपने को राजपूत बामन समझने लगे हैं। अपने नाम में सिंह जोड़ते हैं। यह बात ये लोग भूल गये हैं कि तुम लोगों का उद्धार करने वाले गांधी जी मर गए और हम लोग जिन्दे हैं। मगर याद रख, परबतिया, सरकार को गांधी बाबा नहीं चलाते, सरकार को हम लोग चलाते हैं।'' इस उद्धरण में एक तरफ जमींदार की कुंठा दिखाई पड़ती है और दूसरी तरफ लोगों में भय बनाए रखने का भाव दिखाई देता है। पंचायतीराज बनाने के पीछे जो उद्देश्य था वह इसीकारण पूरा नहीं हो पाया। पंचायत चुनाव भी लोगों के लिए स्वार्थ पूरा करने का जरिया बन गए हैं। सामंती व्यवस्था में टूटन के स्वर को शिव प्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' में भी प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास में जमींदार प्रथा टूटने के कारण पात्र ठाकुर जैपाल सिंह कैरता गाँव छोड़कर ही चले गये हैं। उपन्यासकार ने उनकी मन:स्थिति को कुछ इस रूप में व्यक्त किया है :

''क्योंकि ऐसी दुनिया में, जहाँ दूसरी हवा चलने लगी हो, जहाँ दूसरी बिरादरी बन गई हो, जहाँ दूसरे रिश्ते जन्म ले रहे हों, बाबू जैपाल सिंह ने कदम न रखने की मन ही मन प्रतिज्ञा कर ली थी। उन्होंने अपनी जिन्दगी के ज़्यादा दिन लोगों के झुके माथे और झुकी आंखों में देखकर बिताये थे। उन्हें नीच जात वालों को तने सीधे देखने का ताव न था।''

उपन्यासकार उन सामंती स्थितियों का बारीकी से वर्णन करता है जो समाज के एक खास वर्ग में बैठ गई हैं। वह किसी भी रूप में इसे स्वीकारने को तैयार नहीं है। वह अलग-अलग ढंग से पंचायती राज कानून को चुनौती देता है और कमजोर करने का कोई भी मौका नहीं छोड़ता। इन प्रवृत्तियों को दूसरे उपन्यासों में भी गहराई से विवेचित किया गया है।

गाँव की अर्थव्यवस्था

आजादी के बाद गाँव की अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से सार्थक प्रयास शुरू किए गए। इन योजनाओं के पीछे गाँव की अर्थव्यवस्था सुधारने के साथ-साथ गाँवों को आत्मनिर्भर बनाने का लक्ष्य रखा गया। यह माना गया कि जब तक गाँवों की आर्थिक स्थिति बेहतर नहीं होती तब तक भारत का विकास संभव नहीं है। इस दौर के उपन्यासों-अंधेरे के विरुद्ध (उदयराज सिंह), मुक्तावती (बलभद्र ठाकुर), शाल वनों के द्वीप (गुलशेर खां शानी),

अमरबेल (वृन्दावनलाल वर्मा), परती-परिकथा (फणीश्वरनाथ रेणु) आदि में इन योजनाओं की वास्तविकता को वर्णित किया गया है। रेणु ने 'परती परिकथा' उपन्यास में कोशी नदी योजना से आमजन को क्या फायदा होने वाला है, इसकी सच्चाई बयान की गई है। गाँव के लोगों में नए तरह का उत्साह है। वह सोच रहे हैं कि पचासों सालों से बन्ध्या परती जमीन कोसी के पानी से उपजाऊ बन जायेगी। उपन्यासकार ने इस भाव को बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से रचा है ''वीरा धरती का रंग बदल रहा है धीरे-धीरे...हरा, लाल, पीला, बैंगनी।...हरे-भरे खेत। परती पर रंग की लहरें! बंधुआ सेथाय थाके मोर, बंधुआ सेथाय थाके ए ए! डी.डी.टी. की बांसुरी रंगो को सुर प्रदान कर रही है। अमृत हास्य परती पर अंकित हो रहा...पांच चक्र नाच रहे हैं। धन धन धन!! पंडुकी का जित्तू उठ गया, पंडुकी नाच नाचकर पुकार रही है-तुत-तुत-तुरा-तुत!!...पिपही शहनाई बजने लगी।'' ऐसे ही बड़े-बड़े बांधों और मशीनों के प्रयोग से गाँवों में बदलाव की बहुत सी उम्मीदें पैदा हुई जिससे गाँव के लोगों में नए जीवन का संचार हो गया। वृन्दावन लाल वर्मा के 'अमरबेल' उपन्यास में गाँवों में मशीनों के आने से क्या तब्दीली हुई उसे कुछ यूं प्रस्तुत किया गया है ''हजारों एकड़ सांस घोटने वाले कांस को उखाड़ फेंकने के लिए मशीनें आयेंगी, कुटीर उद्योग फैलाए और बढ़ाए जायेंगे, ढ़ोरों की नसल बदलने के लिए बड़े-बड़े सांड आ रहे हैं, सूखी भूमि अन्न की हरियाली से लहलहा उठेगी, जनजीवन फलफूल उठेगा।'' ऐसी ही न जाने कितनी योजनाएं बनीं और उसके पीछे लोगों ने अपने स्वार्थ भी जमकर पूरे किए। इन योजनाओं का जो लक्ष्य रखा गया उसे यदि सही तरह से पूरा किया जाता तो भारत के गाँवों की स्थिति में तब्दीली आ चुकी होती। योजनाओं को जानबूझकर असफल बनाया जाता है जिससे समाज में बेरोजगारी और गरीबी बढ़ती है। लिहाजा गाँवो की युवाशक्ति असमय ही गलत तरह के कामों में लिप्त हो जाती है। वह राजनीतिक पार्टियों के लिए मात्र भीड़ जुटाने और स्वार्थ पूरे करने का माध्यम मात्र रह गई है।

गाँव की संरचना का उपन्यास पर प्रभाव

आजादी के बाद भारतीय गाँवो की संरचना इतनी जटिल होती जा रही थी कि एक खास अंचल को ही उपन्यास का केन्द्र बनाया जा सकता था। आंचलिक उपन्यास की परंपरा मुकम्मल रूप में आजादी के बाद के दौर में ही देखने को मिलती है। आंचलिक उपन्यासों की संरचना विधान के विषय में डॉ. रामदरश मिश्र लिखते हैं, ''अंचल के जटिल जीवन चित्र को अंकित करने के लिए लेखक कहीं मोटी रेखाएं खींचता है, कहीं पतली, कहीं अवकाशों को भरने के लिए, दो-चार बिन्दु अपनी तूलिका से झाड़ देता है। अनेक पर्वों, उत्सवों, परम्पराओं, विश्वासों, व्यथा के अवसरों, गीतों, संघर्षों, प्रकृति के रंगों, पुराने-नये जीवन-मूल्यों, जातियों आदि से लिपटा हुआ अंचल का जीवन अभिव्यक्ति के लिए नए माध्यम की अपेक्षा करता है।'' आंचलिक उपन्यासों में इन सभी रूपों को गहराई से व्यक्त किया गया है। आंचलिक उपन्यास की कथावस्तु अलग-अलग ढंग से आगे बढ़ती है। रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' उपन्यासों में नवीन कथा विन्यास को देखा जा सकता है। 'मैला आंचल' पूर्णिया जिले के पिछड़े हुए गाँव की कथा है। ''इसमें फूल भी हैं, शूल भी हैं, धूल भी है गुलाल भी, कीचड़ भी है चंदन भी, सुंदरता भी है कुरूपता भी।'' उपन्यासकार में घटनाएं एक-दूसरे में बेतरह लिपटी हुई हैं जिनको अलग-अलग करने से उनका प्रभाव कम हो जाता है। कथानक में जमींदार और संथालों के बीच का संघर्ष है, गांधीवादी और सोशलिस्ट पार्टी की वास्तविकता है और वहीं डॉ. प्रशांत और कमली का प्रेम है और इन सबके साथ अंग्रेज मार्टिन और उनकी पत्नी मेरी की कहानी है। घटनाएं इस कदर विन्यस्त हैं कि उनको अलगाना संभव नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ कथानक अपनी संरचना अपने आप ही निर्धारित करता है। गाँव के लोकगीत, वहाँ की बोलियों का प्रभाव, पर्व-त्यौहार सभी कुछ स्वाभाविक ढंग से कथानक में जुड़ता चला जाता है। इस तरह के उपन्यासों में 'कब तक पुकारूँ (रांगेय राघव), आधा गाँव (राहीमासूम रजा), रागदरबारी (श्रीलाल शुक्ल) आदि हैं। रागदरबारी उपन्यास आजादी के बाद और 1970 के बाद भारत के गाँवों की जो स्थिति है उसकी सच्चाई बयान करता है। रागदरबारी में कोई एक बंधी कथा नहीं है। उपन्यास में विभिन्न कथाओं की झलकियाँ हैं। लेखक ने उनको इस प्रकार संयोजित किया है कि उनको एक रूप मिल गया है। श्रीलाल शुक्ल ने उपन्यास के गाँव शिवपालगंज के माध्यम से भारतीय गाँवो की विसंगतियों का बारीकी से चित्रण किया है। वहीं रामधारी सिंह दिवाकर ने आज के गाँवों की सच्चाई को अलग अंदाज में 'दाखिल खारिज' उपन्यास में प्रस्तुत किया है

सन्दर्भ ग्रंथ

1. गोदान : प्रेमचंद
2. प्रेमाश्रम : प्रेमचंद
3. जल टूटता हुआ : रामदरश मिश्र
4. अलग अलग वैतरणी : शिव प्रसाद मिश्र
5. अमर बेल : वृदावन लाल वर्मा
6. मैला आंचल : रेणु

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

ग़ालिब : आधुनिक चेतना

डॉ. नमस्या*

ग़ालिब, मीर, नज़ीर की कविता उर्दू साहित्य की वह कविता है जो समय सापेक्ष सवालों, संवेदनाओं को पूर्ण सहजता के साथ प्रस्तुत करती है। उर्दू साहित्य के संदर्भ में जब हम चेतना पर विचार करते हैं, तो जो नाम सबसे पहले ज़हन में उभर कर आते हैं वह हैं–खुसरो, नज़ीर, ग़ालिब जिनमें से ग़ालिब का काव्य आधुनिक काव्य चेतना से लबरेज़ है। आधुनिक कविता की चेतना की आरम्भिक परछांइयों को हम इन शायरों की नज़्मों, ग़ज़लों में मुखर होता पाते हैं। उर्दू कविता आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी कविता के लिए एक ऐसी आधारशिला का निर्माण करती है जो व्यक्ति और व्यक्तित्व, समाज और सामाजिकता, के मध्य संबंध को स्पष्ट करती है। नज़ीर जनचेतना के कवि हैं तो ग़ालिब व्यक्ति चेतना को उसके अत्यंत प्रकृतिस्थ रूप में प्रस्तुत करते हैं। ग़ालिब की स्वछंद सोच, काल्पनिक नवीनता, प्रस्तुति की नितांत सहजता अचंभित करती है। बेशक वह सहजता के उस चरम को छूते हैं जहाँ हम यह अनुभूत करते हैं कि गोया यह भी मेरे दिल में था। आज ग़ालिब और उर्दू साहित्य एक दूसरे के पर्याय हैं। पर्याय बन जाने के भी अपने पुख्ता कारण हैं और वह यही हैं कि उनकी संवेदनाओं में प्रश्नों और जिज्ञासाओं को केन्द्रीय स्थिति प्राप्त है। इस दृष्टि से वह पिछली दो सदियों में हिन्दी उर्दू के विशिष्ट कवि हैं। ग़ालिब के काव्य की विशेषता है कि उनके शेर उनके व्यक्तित्व के आइनादार हैं और साथ ही जीवनानुभवों की एक सामान्य भूमि अपने भीतर समाहित किए हुए हैं। साहित्यकार की यही साहित्यिक ईमानदारी उसके और समाज के मध्य संबंध को प्रगाढ़ बनाती है। ग़ालिब के सृजन बोध में सार्वजनीन चेतना को हम सर्वाधिक मुखर पाते हैं।यही कारण है कि विशिष्ट संदर्भ से जुड़े होने के बावजूद वह जीवन के सामान्य धरातल को भी छूते हैं बकौल एहतेशाम हुसैन–

''वे मानव की सूक्ष्म भावनाओं, उनके सुख दुख और उनकी आवश्यकताओं को समझते थे और अपनी कविताओं में जीवन की जटिल समस्याओं को ऐसे रूप में प्रस्तुत करते थे कि पढ़ने या सुनने वाला भी अपने मन की गूंज अनुभव करने लगता था।''

''देखना तक़रीर की लज़्ज़त कि जो उसने कहा,
मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है।''

एक ऐसे शायर जिनकी कविता किसी भी श्रोता या पाठक के दिल की आवाज़ लगती है। मानवीय चेतना का वह स्तर जिसे पढ़ने के बाद यूं लगता है मानो ग़ालिब के हाथ खुदा ने वह कलम दे दी है जो हरेक इंसान के दिल और ज़हन को खंगाल के काग़ज पे चस्पा कर देती है। उनका हर शेर जो अपने आप में एक पूरी बात है, एक पूरा किस्सा है। जिसे न तो और बढ़ाया जा सकता है, न ही घटाया जा सकता है। वस्तुत: वह कल्पना की असीमित उड़ान में उड़ते नहीं हैं बल्कि वह सटीक उस सच्चाई पर जाके ठहर जाते हैं जो धक्क से किसी भी इंसान के दिल में उतर जाती है उनकी चेतना का यह स्तर देखने लायक है कि –

''कासिद के आते–आते ख़त इक और लिख रखूं,
मैं जानता हूं वो जो लिखेंगे जवाब में।''

एक दूसरे को जानने की प्रक्रिया में निस्संदेह ये चरण चरमावस्था है।प्रत्येक मनुष्य जिस दिन खुद को जान जाता है खुद के दर्द को सुख को दुख को जान जाता है उस दिन वह सारी कायनात को जान जाता है और तब वह यह भी जानता है कि उसके कौन से शब्द किस तरह और क्या–क्या असर छोड़ेंगे।

इंसान के तमाम सूक्ष्म भावावेगों को अपनी कविता में उतार देने में ग़ालिब सिद्धहस्त थे।जटिल से जटिल भावावेगों के चित्र और उनकी संपूर्ण संवेदना को वह अपने शब्दों में समेट लाते थे उदाहरण के तौर पर जैसे तकलीफ की रौ में बहता हुआ

असि.प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय,
डी.ई.आई दयालबाग शिक्षण संस्थान, दयालबाग़, आगरा
मोबाइल : 9219617329

इंसान न चाहते हुए भी अनियंत्रित हो जाता है,कई बार हम सोचते हैं कि काश! किसी ने हमें उस वक़्त रोका होता जब हम तमाम कुफ़्रान कहे चले जा रहे थे। मनुष्य के इस पछतावे को उसकी सभी गहन संवेदनाओं के साथ प्रस्तुत करते हुए वह कहते हैं कि–

''इब्ने मरियम हुआ करे कोई,
मेरे दु:ख की दवा करे कोई।
बक रहा हूं जुनूं में क्या क्या कुछ
कुछ न समझे खुदा करे कोई
न सुनो गर बुरा कहे कोई,
न कहो ग़र बुरा करे कोई,
रोक लो ग़र गलत चले कोई,
बख़्श दो ग़र खता करे कोई।''

तमाम विद्वानों का मानना है कि ग़ालिब का असल जादू उनकी ज़बान से ज़्यादा उनके बयान में है। उनके इंतकाल के सौ साल बाद भी उनके कलाम में आधुनिक उदासीन मनुष्य की आरज़ू और शिकस्तों की प्रतिध्वनि साफ सुनाई देती है।

''न गुले नगमा हूं न परदाए साज़,
मैं हूं अपनी शिकस्त की आवाज़''

उन्होंने मनुष्य की नाउम्मीदी का संवेदनशील वर्णन किया है। उम्मीद पे सारी दुनिया जीती है ऐसे में उम्मीद का मर जाना मर जाने के ही बराबर है। आधुनिक मनुष्य के जिस अकेलेपन, अवसाद, संत्रास, दुर्भाग्य की चर्चा आधुनिक कविता करती है, ग़ालिब की शायरी उस दर्द को, उस दर्द के भारीपन दोनों ही को बहुत पहले ही शब्दों में बांध कर सामने ला खड़ा करती है–

''मुनहसिर मरने पे हो जिसकी उम्मीद,
ना उमीदी उसकी देखा चाहिए ।''

ग़ालिब के यहाँ जीवन का एक दार्शनिक दृष्टिकोण मिलता है, जिसमें शोक और आनंद दोनों के लिए गुंजायश ही नहीं बल्कि अपेक्षा भी है, जैसे वह इस बात के कायल हों कि संघर्ष से ही घर की शोभा के समस्त पहलू उजागर होते हैं। इस अनुभूति ने ही उन्हें निराशा, कठोरता की तंग गलियों से निकाल कर कविता के दार्शनिक संतुलन और निर्लिप्त हास्यप्रियता के राज्यपथ पर ला खड़ा किया। उन्होंने हर वक़्त कष्टों या दुखों का रोना नहीं रोया बल्कि दुखों को जिन्दग़ी की प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया।

''हवस को है निशाते कार क्या क्या,
न हो मरना तो जीने का मज़ा क्या।''

प्रेम और प्रेमी हृदय की अनुभूतियों को प्रेम और सौंदर्य पसंद शायर बखूबी बयान करते हैं बेरहम प्रेयसी जब प्रेमी के हृदय की बात को नहीं समझती, तो वह खुदा से यही मासूम फरियाद करता है कि –

''या रब न वो समझे हैं न समझेंगे मेरी बात,
दे और दिल उनको जो न दे मुझको ज़ुबां और।''

प्रेम की इसी पराकाष्ठा को प्रस्तुत करते हुए वह कहते हैं कि जिस तरह बूंद का भाग्य दरिया में जाकर मिल जाने से है, उसी तरह प्रेम का दर्द जब हद से गुज़र जाता है, तो वही दर्द जीने की वजह बनता है। वही पीड़ा जिसे तमाम कवियों ने अपने जीने का सबब माना।

''इशरते क़तरा है दरिया में फना हो जाना,
दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।''

ग़ालिब का मानना था कि इंसान अपने कर्म और नीति से ही इंसान बन पाता है और जिस दौर में वह जी रहे थे उस वक़्त न कर्म की राह आसां थी न ही कोई सकारात्मक नीति कारगर–

''बस कि दुश्वार है हरेक काम का आसां होना,
आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसां होना।''

यूंही इंसान बन जाना आसान नहीं अनेक भावनाओं से जुड़ने के बाद विवेक को नियंत्रित रखना महज़ आसान बात नहीं। उनके बाद के शायरों में से किसी ने कहा कि –

''फरिश्ते से बेहतर है इंसान बनना,
मगर उसमें लगती है मेहनत ज़ियादा।''

जीवन की जटिलताओं को उन्होंने इस कदर भोगा कि उनके सामने एक-एक करके उनका सारा परिवार और सारे दोस्त साझेदार इस दुनिया में उन्हें अकेला छोड़ गए। अपनी डायरी में अपनी संवेदनाओं को प्रकट करते हुए वह कहते हैं कि तकलीफ इस बात की है कि मैं इस कदर बदनसीब हूं कि मेरे मरने पर मेरे लिए कोई रोने वाला भी न होगा। वो कहते हैं कि –

''मुझे क्या बुरा था मरना अगर एक बार होता।''

उर्दू ग़ज़ल को उन्होंने सतही भावुकता और ओछे शब्दजाल से मुक्त करके गहराई और रंगीनी प्रदान की। उनका एक एक शेर उर्दू साहित्य का बेशकीमती मोती है, शायद यही कारण है कि कितना मुश्किल है ग़ालिब के दीवान में से चुनिंदा शेरों को छांटना और अपनी बात को कहना जबकि उनका हरेक शेर चमत्कारपूर्ण तरीके से आपकी ही बात कह रहा हो–

''हुई मुद्दत की ग़ालिब मर गया पर याद आता है,
वो हर इक बात पर कहना कि यों होता तो क्या होता।''

मनुष्य और उसकी विभिन्न अनुभूतियों, संवेदनाओं को शब्द देने के साथ वे जन्नत और खुदा के बारे में भी बेखौफ खुलकर लिखते हैं। इसे हम ईश्वर के प्रति उनकी संशय की

भावना कह सकते हैं तो साथ ही यह भी कह सकते हैं कि ताउम्र उन्हें जो दुखों का अंबार मिला यह उसका परिणाम था—

''ज़िन्दगी अपनी जब इस शक्ल से गुज़री ग़ालिब,
हम भी क्या याद करेंगे कि खुदा रखते थे।''

या फिर यह भी कहा या माना जा सकता है कि इस आज़ाद ख्याल शायर के लिए कोई भी बंधन नागवार था। गालिब कहते हैं कि हम खुदा के बंदे है और उसको मानते भी हैं, लेकिन अपने ऊपर नाज़ भी करते हैं। खुदा से मिलने काबे तक बेशक गए थे। लेकिन हमें देखकर भी जब काबे का दरवाज़ा अपने आप नहीं खुला तो हम जान गये कि खुदा ने हमारे लिए अपनी बाहें नहीं फैलाईं और बस हम दरवाज़े के बाहर से लौट आए। ये आवाज़ आज की कविता की आवाज़ है जिसे ग़ालिब के ज़माने ने बहुत बुरा मानते हुए उन्हें गुरूर से भरपूर और काफिर माना।

''बंदगी में भी वो आज़ादा व खुदबीं हैं कि हम,
उलटे फिर आए दरे काबा अगर वा न हुआ।''

जो ईश्वर में विश्वास रखते हैं उन्हें वह संदेश देते हैं कि ख़ुदा की बंदगी केवल उसके कुफ्र के भय से करना बेईमानी है अगर हम सच्चे खुदाबन्द हैं तो खुदा हमारे लिए हर शक्ल में हर जगह मौजूद हैं—

ईमां मुझे रोके है तो खैंचे है मुझे कुफ्र,
काबा मेरे पीछे है कलीसा मेरे आगे।

लाखों बरस पुरानी खुदा की इसी जन्नत पर व्यंग्य करते हुए, हंसते हुए वह कहते हैं कि –

जिसमें लाखों बरस की हूरें हों,
ऐसी जन्नत को क्या करे कोई।

ईश्वर के अस्तित्व पर ग़ालिब की यही शंकात्मक दृष्टि उन्हें आधुनिक कविता के बेहद करीब ले आती है।

वस्तुत: आधुनिक चेतना के निकट जो एक तत्व उन्हें ले जाता है–वह है गीत की प्रकृति में उनके हाथों गठित आमूल चूल परिवर्तन। प्रेमी, दरबारी, देशभक्त और सन्त कवि के इन चार पारम्परिक बिम्बों का घेरा वे साफ तोड़ते हैं। एक अगम्य व्यवस्था क्रम की तलाश, आत्मशंसय, ईश्वर तक में संशय, भूलों की संभाव्यता, पाप प्रसंग, संकीर्णता और दुर्भाग्य के क्षणों की आत्मस्वीकृति, आधुनिक गीतिकाव्य के ये सारे लक्षण ग़ालिब की कविताओं में भरे पड़े हैं।

के. सच्चिदानंद लिखते हैं कि ग़ालिब की कविता चिन्ताजीर्णयुग की वैयक्तिक व्याख्याएं हैं। भाषा और संबंध टूट बिखर रहे हों जहाँ, ऐसे अनास्थापूर्ण समय के आध्यात्मिक ऊहापोह का धड़कता हुआ ऐतिहासिक दस्तावेज़ है ग़ालिब की कविता।

ग़ालिब एक ऐसे शायर जिनके दीवान का एक–एक अशआर उनकी समग्र व्यापक नवीन चेतना का द्योतक है इसलिए अंतत: यही कहेंगे कि–

पूछते हैं वो कि ग़ालिब कौन है,
कोई बतलाओ कि हम बतलाएं क्या!

ग़ालिब का दौर हिन्दी–उर्दू कविता का वह दौर था जहाँ राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति के मध्य कशमकश थी । सामंतवादी ताकतों को कहीं सहज स्वीकार कहीं सहज अस्वीकार किया जा रहा था, ऐसे में एक बेहद जमीनी इंसान से महानता की पारलौकिक उम्मीद क्या एक किस्म की ज्यादती नहीं। हम एक ही तराजू में कई किस्म के और बेहद जुदा ज़हनियत के लोगों को कैसे तोल सकते हैं। हरेक कविता एक जुदा लम्हे की गवाह होती है एक जुदा एहसास के साथ होती है, जिस तरह हम दो अलग परिस्थितियों में रची गईं कविताओं की तुलना एक ही धरातल पर नहीं कर सकते उसी प्रकार दो अलग विधाओं में बेहद जुदा विचारों एवं परिस्थितियों में लिखी गईं दो रचनाओं का एक निष्कर्ष कैसे निकाल सकते हैं । ग़ालिब की दस्तम्बू उन्हीं की लिखी है। क्या ये उस लेखक की सच्चाई नहीं कि उसकी डायरी में वही दर्ज़ है जो उसने सोचा। जहाँ कोई सोचा समझा साहित्यिक ड्रामा नहीं है और ऐसे में यह सोचना कि उन्हें शायद उस दौर में इस बात का एहसास ही न हुआ हो यह संभव नहीं क्योंकि ग़ालिब उन चुनिंदा शायरों में से एक हैं जिन्हें उनके जीवन काल में ही भरपूर प्रसिद्धी और सम्मान प्राप्त हुआ। सबसे बड़ी बात यह है कि ग़ालिब शायर से पहले इंसान थे शायद यही कारण था कि उनकी शायरी में मौजूद इंसान अपनी सारी खूबियों और खामियों के साथ इसी ज़मीन का बाशिंदा है और हममें से एक है।

अपनी शायरी में मौजूद गालिब कहीं पाप बोध से ग्रस्त हैं कहीं अनास्थावान हैं, कहीं दर्द एवं अवसाद में है और जस का तस अपनी संवेदनाओं को वह पन्नों में उड़ेल देते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, एहतेशाम हुसैन, लोकभारती 15–ए महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद, संस्करण 2002.
2. ग़ालिब–रामनाथ सुमन–भारतीय ज्ञानपीठ –18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली–110003, संस्करण 2011
3. शेर–ओ–शायरी– अयोध्या प्रसाद गोयलीय–भारतीय ज्ञानपीठ – 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली–110003, संस्करण 2001
4. उर्दू और उसका साहित्य, श्री गोपीनाथ अमन–प्रथम संस्करण, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड बम्बई द्वारा प्रकाशित एवं नवीन प्रेस दिल्ली में मुद्रित
5. शेर–ओ–शायरी, अयोध्या प्रसाद गोयलीय, भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली–110003. संस्करण 2001.

शोधश्री–2019 : ISSN : 0974-7958

मैत्रेयी पुष्पा के 'विज़न' उपन्यास में परिलक्षित स्त्री पुरुष संबंध

अलका यादव*

सामान्य परिचय

आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य में कथा साहित्य का विशिष्ट स्थान है। कथा साहित्य की विभिन्न विधाओं में कहानी और उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। समय और समाज का सांगोपांग चित्रण करने के लिए आज के संदर्भ में सबसे प्रभावशाली साहित्यिक विधा उपन्यास है। जीवन की बहुरूपता का बहुआयामी चित्रण उपन्यास द्वारा संभव होता है। इस विधा में घटनाओं और संवेदनाओं की व्यापक और पूर्ण व्यंजना होती है।

समाज के सभी वर्गों के लोग उपन्यासकार शिल्पी हाथों से यथोचित रूपरंग पाकर अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पाठक स्वयं को उपन्यास के पात्र में परोक्ष रूप में ढूंढते हैं। उपन्यासकारों के हाथो में पाठकों की ऐसी आकांक्षाएँ साकार हो उठती है, उपन्यासकार पाठकों के हृदय तथा बुद्धि दोनों पर ही समान अधिकार पा लेने में सक्षम होते हैं। मैत्रेयी पुष्पा ऐसी ही एक महान कथाशिल्पी हैं, जिन्होंने मानवीय भावनाओं को अपने सहृदय व्यक्तित्व-रस में डुबो-डुबोकर एक एक कथा माला गुँथी है। इनका प्रत्येक उपन्यास किसी भी संवेदनशील हृदय को अनुरंजित करने में समर्थ है।

प्रस्तुत आलेख में मैत्रेयी पुष्पा के आठवे उपन्यास 'विजन' को मद्देनजर रखते हुए स्त्री पुरुष के अंतर्संबंधों का चित्रण यहाँ प्रस्तुत करने की कोशिश की जा रही है।

विज़न उपन्यास में स्त्री और समाज के अंत: संबंधों का चित्रण मिलता है। विज्ञान-तकनीकी और मानवीय भावना की द्वंद्वात्मकता के बीच विभिन्न मात्र दृष्टि की ही नहीं 'दृष्टिकोण' की भी तलाश है। इसमें स्त्री शक्ति के नये आयाम खोजने और खोलने का प्रयास किया गया है।

प्रतिभाशाली नेत्र सर्जन के रूप में प्रसिद्धि पाने की कामना रखने वाली योग्य मध्य परिवार की नेहा के लिए जब आगरा शहर के नेत्र विशेषज्ञ डॉ. आर.पी. शरण अपने बेटे का रिश्ता लेकर आते हैं तो नेहा के पिता को लगता है कि सुदामा के घर कृष्ण आए हैं। डॉक्टर आर.पी. शरण नेहा के पिता को कहते हैं, उन्होंने अपने बेटे के लिए बहुत सारी लड़कियां देखी लेकिन उन्हें कोई पसंद नहीं आई।

नेहा के पिता ने अपने जीवन में कभी चमत्कार होते नहीं देखा था। इस समय उन्हें अपना घर सोने के महल में बदला हुआ दिखाई देने लगा,क्योंकि दौलत का मालिक सामने बैठा हुआ था। लेकिन नेहा अभी विवाह के लिए तैयार नहीं थी। नेहा असमंजस में पड़ जाती है। नेहा अपनी सीनियर आभा दी के पास जाती है, और उन से सलाह मांगती हैं तब आभा दी उसे कहती हैं कि तुम जानती हो नेहा जो लड़का तुम्हें अपनी और आकर्षित कर रहा है कल उसी झटके से अलग कर देगा, क्योंकि उसके अट्रैक्शन के खिंचाव को उसका कुटुंब सह नहीं पायेगा। और उस परिवार का बेटा अपने भूले हुए कर्तव्य को याद करके घर वालों को सुखी बनाना अपना एक मात्र लक्ष्य बना लेगा। शादी के बाद लड़की मां-बाप से अलग हो जाती है मगर लड़का उसी अनुपात में पास आ जाता है कैसा अचंभा है, मगर यह अचंभा बर्दाश्त करने लायक नहीं। मुश्किल तो यही आती है यह सब सुनकर नेहा विवाह करने से इंकार कर देती है लेकिन माता पिता के समझाने पर मान जाती है।

कुछ दिन बाद अजय शरण और नेहा का विवाह हो जाता है। दोनों के हनीमून से आने के बाद शहर में भव्य आयोजन किया जाता है जिसमें डॉक्टर शरण के अपने नाते रिश्तेदारों और सगे-संबंधियों के अलावा शहर के नामी डॉक्टर, इंजीनियर, व्यापारी लोगों को आमंत्रित किया जाता है लोग चकित से देख रहे थे। यह भी डॉक्टर आर पी शरण का करिश्मा ...अपने करिश्मे पर गर्व से गौरव से पारिवारिक और जातीय अभिमान से माथा ऊंचा किए हुए अंग्रेजी म्यूजिक से हल के स्वरों के बीच अपनी ऊंची आवाज में कह रहे थे-मीट माय डॉटर इन लॉ।

नेहा अपने को भाग्यशाली मानने लगती है, और ससुराल का वैभव देखकर अपनी नादानियों को याद करके मन-ही-मन शर्मिंदा होती रहती है। वह अपने मायके और ससुराल की

रेवा विश्वविद्यालय बैंगलौर, फ़ोन :88615454292, 9902594077
पता : : #202 Ascenta Indira Apartment, Gundpaa reddy layout chola nagar, R.T.Nagar-560032

तुलना करती है और मायके को हर दृष्टि से छोटा मानती है।

धीरे-धीरे नेहा अपने ससुराल के प्रति समर्पित हो जाती है, कुछ दिनों बाद उसे पता चलता है कि घर में उसकी हैसियत सिर्फ़ दिखावे भर की है उसे अस्पताल में सर्जरी आदि करने का कोई अधिकार नहीं है एक बार नेहा अपने ससुर की गैरहाजिरी में एक मरीज की आँखों की सर्जरी कर देती है, जिससे आर. पी. शरण बहुत ही क्रोधित हो जाते हैं। नेहा सोचती है ''मरीजों के बारे में इस तरह का फैसला लेने का अधिकार केवल पापा जी का है।'' गलती वहाँ नहीं हुई कि उसने डे केयर सर्जरी की गलत क्षण था जिसमें उसने फैसला लिया। पापा से अजय से आगे निकलना चाहती थी नेहा? क्षमता भी हौसला भी हुनर का खजाना भी साथ ही स्त्रियोचित प्रिय मधुर व्यवहार भी। मरीजों के दिल में इन दो पुरुषों के लिए जगह कहां बचेगी? वह पूछना चाहती है तरक्की करने का अधिकार और अवसर मिलेगा कभी? पापा जी बताएं कि वे अवसर छीन क्यों लेते हैं? हो सकता है मेरी अल्पज्ञता हो। लेकिन कहीं लगता है कि वह डर जाते हैं डर से आक्रोश पैदा होता है, आक्रोश क्रोध में ढल जाता है, और क्रोध आतंक में। नेहा के ससुर सोचते हैं। बहू बाप बेटे को अप्रासंगिक ना कर दे और एक दिन अस्पताल की सत्ता पर काबिज हो जाए ऐसी औरतें भयानक होती हैं वह हमें ही डराने लगेगी.... क्योंकि वह दोनों पुरुषों से अलग प्रजाति की है। अत: नारी का काम पुरुषों के काम में दखल देना नहीं बताया गया है डॉक्टर होने के नाते इस परिवार के लिए पदक जैसी है। शी इज़ मेडल।

कुछ दिनों बाद नेहा आभा की दी सलाह पर अपने पिता का विरोध सहकर भी सीनियर रेसिडेंसी ज्वाइन कर लेती है। अपने बच्चे को मां के पास छोड़ कर वह आभा का कमरा शेयर करके उसके साथ रहती है, लेकिन कुछ ही दिनों पश्चात अजय नेहा को लेने आ पहुँचते हैं, तथा यह भी बताते हैं कि वह लंदन जाना चाहते हैं और कोई ना कोई पापा के पास भी रहना चाहिए, लेकिन नेहा बिल्कुल मना कर देती है। जिससे उसे पिता के विरोध को सहना पड़ता है। लेकिन फिर भी वह अपने ससुराल नहीं जाती। लेकिन अंत में नेहा के ससुर याचक का चोला पहनकर भीख के रूप में नेहा का सहयोग मांगते हैं। अपनी पुत्रवधू से भरोसेमंद और कौन हो सकता था? इस बार वह अपनी ससुराल जाकर शरण आई सेंटर का काम संभालने लगती है यहां आकर उसे पता चलता है कि मरीजों को बहलाकर उनसे मोटी रकम ऐंठी जाती है। प्रतिभाशाली नेहा को रिसेप्शनिस्ट स्वागत कक्ष में बिठाया जाता है।

कुछ समय बाद एक मरीज जाता है जिसकी पिछले साल की सर्जरी हो चुकी थी लेकिन उसकी आँखों की रोशनी वापस नहीं आई थी। नेहा उसका टेस्ट स्वयं करती है तो पता चलता है कि लेंस अपनी जगह पर नहीं है वह अजय को मनाने का प्रयत्न करती है कि उसकी सर्जरी वह स्वयं करेगी लेकिन अजय कहते हैं कि पापा को मुझ तक तो कॉन्फिडेंस नहीं है कि रोगी की आँखों को छूने दे तुम्हारी क्या चलेगी।

ऑपरेशन की तैयारियां हो गई थी ब्लॉक देने के लिए नेहा को बुलाया जाता है परंतु नेहा जाने से साफ इंकार कर देती है वह कहती है कि ब्लॉक देना ही मेरा काम है? अजय उसके पिता बहुत ही क्रोधित होते हैं तब अजय ही ब्लॉक देते हैं, और डॉक्टर शरण ऑपरेशन करते हैं। ऑपरेशन के दौरान ही मरीज मृत्यु की कगार तक पहुँच जाता है और बहुत प्रयत्न करने के बाद भी उसे बचाया नहीं जा सका। नेहा अजय की दुखित नज़रों में अपनी संवेदना मिला देती है। अजय नेहा से मदद मांगता है ''नेहा टेक एडवांटेज ऑफ़ युवर वुमन हुड'' नेहा कहती है कि तुम एक स्त्री को इसलिए लाए थे अजय कि वह स्त्री तुम्हें ख़ुश करें और स्त्री पन का लाभ उठाकर तुम्हारे खतरे दूर करे। ख़ुद पेशेंट के संबंधियों की मार खाए गलियाँ खाए।

अंत में कहती है ऐसा क्यों हुआ सवाल मुझे परेशान करता है हाँ इसमें शक नहीं डॉक्टर आर.पी. शरण को मेरा तरीका जंचा नहीं। मैं उन्हें चिकित्सा का असली मर्म नहीं समझा पाई मेरे सच को वह मेरा विरोध समझते रहे।

निष्कर्ष

इस उपन्यास की नायिका डॉक्टर नेहा और डॉक्टर आभा पुरुष व समाज के जिस मानसिक शोषण का शिकार होती है वह मानसिक शोषण शारीरिक शोषण से भी कहीं अधिक खतरनाक है, क्योंकि स्त्री की प्रतिभाओं को समाज पुरुष और स्वयं स्त्री भी स्वीकार नहीं करना चाहती। परिस्थितियों से जुझने की प्रक्रिया में इन नारियों का पात्र सशक्त दिखता है।

उपन्यास में दो पुरुष पात्र हैं डॉक्टर नेहा के ससुर और उसके पति जो झूठी प्रतिष्ठा के बलबूते अपनी करतूतों को दूसरों के सर मढ़ देने में माहिर है।

संदर्भ सूची :

1. हिंदी की महिला उपन्यासकारों की मानवीय संवेदना : डॉ.उषा यादव
2. विज़न उपन्यास : मैत्रेयी पुष्पा
3. हिंदी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेन्द्र